शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष: 16 अंक 89 (मूल क्रमांक 146)
मई-जून 2023 मूल्य: ₹ 50.00

शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष: 16 अंक 89 (मूल क्रमांक 146)
मई-जून 2023

मूल्य: ₹ 50.00

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर
जाटखेड़ी, भोपाल-462 026 (म.प्र.)
फोन: +91 755 297 7770, 71, 72, 4200944
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन: sandarbh@eklavya.in
वितरण: circulation@eklavya.in

अब *संदर्भ* आप तक पहुँचेगी रजिस्टर्ड पोस्ट से इसलिए सदस्यता शुल्क में वृद्धि की जा रही है।

सदस्यता शुल्क	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
	450.00	1200.00	8000.00

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर

प्रबन्धकीय सह-सम्पादक
पारुल सोनी

सहायक सम्पादक
अतुल वाधवानी

सम्पादकीय सहयोग
सुशील जोशी,
उमा सुधीर

आवरण
राकेश खत्री

वितरण: झनक राम साहू

सहयोग
अनमोल जैन, हरिओम पाटिल,
कमलेश यादव

मुखपृष्ठ: *द डेथ ऑफ आर्कमिडीज़।* कैमिल गिल्बर्ट द्वारा चित्रित Les Martyrs de la Science (G. Tissandier, 1882) नामक किताब से लिया गया यह चित्र एक महान गणितज्ञ, आविष्कारक और वैज्ञानिक, आर्कमिडीज़ की मौत से ठीक पहले के लम्हे को दर्शाता है। कहते हैं, आर्कमिडीज़ अपनी वैज्ञानिक खोजों में इतना मदमस्त रहा करता था कि उसके आखिरी शब्द थे, "मेरे वृत्तों को मत छेड़ो!" ये शब्द उसने उस रोमन सिपाही से कहे थे जो उसके सामने तलवार लिए खड़ा था। पढ़िए, इस दिलचस्प वैज्ञानिक की कहानी पृष्ठ 35 पर।

कवर 3: *सिकल सेल एनीमिया से ग्रसित किसी व्यक्ति के हाथ के बगल में एक निरोगी व्यक्ति का हाथ।* इन दोनों हाथों के फर्क के पीछे मुख्य कारण यह है कि रोग ग्रसित व्यक्ति के रक्त की कुछ लाल कोशिकाएँ हँसिए के आकार में बदल गई हैं। ऐसा कैसे होता है और इस रोग की पड़ताल करने का क्या इतिहास रहा है? पढ़िए पृष्ठ 17 पर।

पिछला आवरण: *नर प्लम-हेडड पेराकीट।* सुन्दर, नटखट, बतियाते तोते। आखिर तोते किसे पसन्द नहीं? जानिए, तोतों की रंगीन खूबियाँ, उनकी बुद्धिमत्ता और संकट में पड़ी उनकी दुनिया के बारे में इस रोचक लेख में पृष्ठ 07 पर। *फोटो- विपुल कीर्ति शर्मा।*

यह अंक त्रिवेणी एजुकेशनल ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है।

LINK : Cover 1 - https://zpe.gov.pl/a/przeczytaj/D19jewZqb
Cover 3 -https://www.labiotech.eu/trends-news/trial-starts-for-treatment-of-warm-autoimmune-hemolytic-anemia/

डिब्बे से डॉक्टरेट

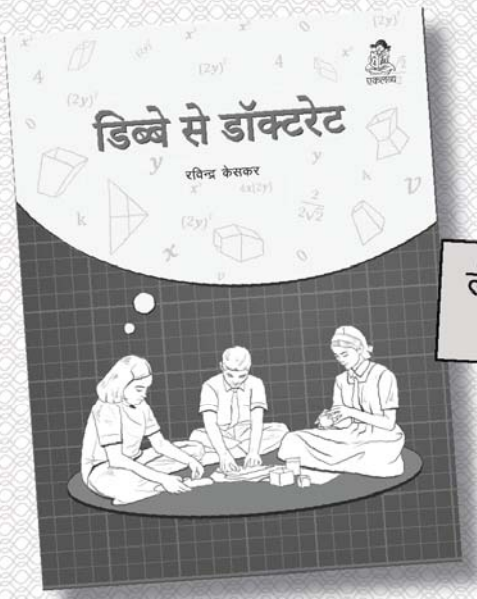

लेखक: रविन्द्र केसकर
मूल्य: ₹ 180

हाथों से कुछ बनाना, सुधारना, खेलना, कल्पना करना और उसे जीवन की व्यावहारिक परिस्थितियों से जोड़ना - यही तो वास्तविक गणित है।

ऑरीगेमी आधारित गतिविधियों के ज़रिए गणित को रोमांचक बनाने वाली यह किताब न सिर्फ बच्चों को मानसिक और वैचारिक रूप से तैयार करेगी बल्कि शिक्षक-प्रशिक्षकों के लिए भी एक उम्दा संसाधन सामग्री हो सकती है।

तो आज ही ऑर्डर कीजिए ...

एकलव्य

पता - एकलव्य फाउंडेशन
जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (मप्र)
फोनः +91 755 297 7770-71-72
वेबसाइटः www.eklavya.in; ईमेलः pitara@eklavya.in

सिकल सेल एनीमिया: एक आणविक रोग

क्या है सिकल सेल एनीमिया? क्या होता है जब हमारी गोल लाल रक्त कोशिकाएँ हँसिए के आकार में तब्दील हो जाती हैं? ऐसा क्यों होता है? अंजु दास मानिकपुरी के इस लेख में न सिर्फ इस बीमारी के कारणों और इतिहास के बारे में जानने को मिलता है, बल्कि इस पर भी सोच-विचार करने का मौका मिलता है कि वैज्ञानिक कार्य किस हद तक सामाजिक और राजनैतिक पूर्वाग्रहों से गुँथा हुआ है। तो जानिए इस आणविक रोग के विज्ञान को और सोचिए, इसके सामाजिक ताने-बाने के बारे में, सम्बन्धित लेख में।

17

यूरेका! यूरेका!

क्या विज्ञान असंख्य संसाधनों का मोहताज है? सैकड़ों वर्ष पूर्व, सिरेकस साम्राज्य के एक वैज्ञानिक, आर्कमिडीज़, सीमित संसाधनों द्वारा ऐसे-ऐसे आविष्कार कर गए कि आज भी उनके सिद्धान्तों और आविष्कारों का इस्तेमाल दुनिया करती है। बड़ा रोचक है, ऐसे वैज्ञानिक की कहानी को हरिशंकर परसाई की कलम से पढ़ना। न केवल इस कहानी में उल्लेखित आविष्कार हैरत में डालते हैं, बल्कि उन आविष्कारों के पीछे की आवश्यकताएँ भी विस्मित करती हैं। और हम सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि मानव जाति और विज्ञान का सम्बन्ध, इतिहास की नज़र से, कितना पेचीदा रहा है। पढ़िए "यूरेका! यूरेका!" चिल्लाते, इस दीवाने वैज्ञानिक की कहानी।

35

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-89 (मूल अंक-146), मई-जून 2023

इस अंक में

07 | रोज़-रिंग्ड पेराकीट और उनके रिश्तेदार
विपुल कीर्ति शर्मा

17 | सिकल सेल एनीमिया: एक आणविक रोग
अंजु दास मानिकपुरी

24 | बीती ताहि ध्यान रख
कालू राम शर्मा

35 | यूरेका! यूरेका!
हरिशंकर परसाई

45 | पढ़ने की न उम्र होती है न जगह
मंजू कुमारी

52 | शिक्षकों के पेशेवर विकास की सम्भावनाएँ
रश्मि पालीवाल

57 | सृजन समूह - एक प्रधानाध्यापक के अनुभव
धर्मपाल गंगवार

63 | पेगी मोहन के आलेख पर प्रतिक्रिया
हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू'

77 | भूखा सेप्टोपस
सत्यजीत रे

91 | कुकर में डिब्बों के नीचे जाली क्यों रखी जाती है?
सवालीराम

आपने लिखा

संदर्भ अंक-144 (जनवरी-फरवरी) में प्रकाशित एकता चौरे जी का लेख *मेरी शिक्षण यात्रा* एक बेहद प्रेरणादायक आत्मकथा है। उनकी जीवन यात्रा हम सभी के लिए प्रेरणा-स्रोत है। स्कूल के दिनों में ही उन्होंने अपनी आँखें खो दी थीं। उसके बाद भी उनका जज़्बा, उनका साहस, उनकी महत्वाकांक्षा और कुछ कर गुज़रने की ललक ने उन्हें एक कामयाब शिक्षक बनाया। एक नेत्रहीन व्यक्ति का जीवन कितना कठिन होता है, इसकी कल्पना मात्र से हमारा मन कौन्ध जाता है। हर कदम पर उन्होंने तकलीफों का सामना किया और उन अनुभवों को साहस और बुद्धिमत्ता से अपने लिए मील का पत्थर बना लिया।

एकता चौरे के लेख को पढ़कर मुझे हेलेन केलर याद आईं, जो जन्म से ही न देख पाती थीं और न ही सुन पाती थीं। हेलेन ने भी अपनी कमज़ोरी को अपनी ताकत बनाया और दुनिया के सामने एक बेहतरीन उदाहरण बनकर सामने आईं। हेलेन केलर और एकता चौरे की कहानी को पढ़कर मुझे एक बात समझ में आई कि माता-पिता एवं शिक्षकों की किसी भी बच्चे को एक नेक इन्सान बनाने और जीवन पथ पर मार्गदर्शन देने में अहम भूमिका होती है।

एकता चौरे के माता-पिता ने भी धीरज और हिम्मत के साथ अपनी तीनों दृष्टिबाधित पुत्रियों का न सिर्फ अच्छा लालन-पालन किया बल्कि उन्हें अच्छी शिक्षा भी प्रदान की ताकि वे अपने पैरों पर खड़ी हो सकें।

इसी अंक में प्रकाशित शलाका गायकवाड जी का लेख *बातचीत और अवलोकन* एकता चौरे के शिक्षक जीवन की एक झलक दिखाता है। उन्होंने बड़ी ही बारीकी-से एकता चौरे जी का एक शिक्षक के रूप में अवलोकन किया है। लेख पढ़कर मालूम हुआ कि कितनी खूबसूरती से एकता अपनी कक्षा व्यवस्था को सम्भालती थीं और साथ ही बच्चों को पूरी लगन के साथ पढ़ाती थीं। ईश्वर जब मनुष्य को एक कमी देता है तो उसे हज़ार नए गुणों से भर देता है, इसका साक्षात उदाहरण एकता चौरे हैं। उनकी आँखों में भले ही उजाला न हो लेकिन मन की आँखों से वे सब कुछ देख लिया करती हैं। कक्षा में कैसे पढ़ाना है, बच्चे ध्यान दे रहे हैं या नहीं, क्या पूछना है और बच्चों को किस प्रकार व्यस्त रखना है, इसका बहुत अच्छा उदाहरण इस लेख में मिलता है। एकता बच्चों को कठिन शब्दों का अर्थ भी बताती थीं, साथ ही सही उच्चारण करना भी सिखाती थीं। उनकी शिक्षण क्षमता

उच्च कोटि की थी। यह बात कल्पना से परे है कि एक नेत्रहीन व्यक्ति किस प्रकार अच्छा शिक्षक बन सकता है लेकिन एकता ने इसे भी वास्तविकता में लाकर दिखा दिया और पूर्वाग्रहों को तोड़कर उन्होंने समाज में अपने लिए एक सम्मानजनक स्थान बना लिया।

मीनू नयाल,
सहायक अध्यापिका
राजकीय प्राथमिक विद्यालय
खटीमा, ऊधम सिंह नगर

संदर्भ अंक-144 में एकता चौरे की शिक्षण यात्रा पढ़ते हुए यह समझ में आया कि विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने अपना हौंसला किस तरह बनाए रखा। माता-पिता ने साथ दिया। बड़ी बहन प्रेरणा स्रोत बनीं। सोहनलाल द्विवेदी की कविता 'हारिए ना हिम्मत' लगातार संघर्ष करने की प्रेरणा देती रही। इसी के साथ हमारा ध्यान इस ओर भी जाता है कि इस तरह के लोगों के प्रति हमारा सरकारी तंत्र कितना असंवेदनशील है कि एक दृष्टिबाधित नवनियुक्त शिक्षिका की तैनाती उसके घर से बहुत दूर ग्रामीण अंचल में की जाती है। जहाँ एकता की माँ अपने 4 साल के बच्चे को घर पर छोड़कर उनके साथ रहने के लिए मजबूर होती हैं। स्थानान्तरण भी 6 साल बाद होता है। एकता जी की हिम्मत की दाद देनी होगी। विषम परिस्थितियों वाले गाँव में भी वह अपना स्थान बनाती हैं और सम्मान पाती हैं। एकता जी हम सब के लिए प्रेरणा स्रोत हैं।

हमें धन्यवाद कहना होगा लुई ब्रेल का जिन्होंने अपने जैसे दृष्टिबाधित लोगों के लिए पढ़ने तथा लिखने की प्रणाली विकसित की, जिसे हम सब 'ब्रेल' के नाम से जानते हैं।

धर्मपाल गंगवार,
राजकीय प्राथमिक विद्यालय
खटीमा, ऊधम सिंह नगर

संदर्भ के अंक-144 में सबसे पहले तो अरविंद गुप्ता जी और विवेक वेलंकी को बधाई! बहुत अच्छे प्रश्न और अपने अनुभवों को सामने रखते हुए अरविंद जी के जवाब! इसे तो छोटी पुस्तिका के रूप में भी सामने लाया जाना चाहिए। हमारी शिक्षा व्यवस्था का हर पहलू इस छोटी-सी बातचीत में झलक जाता है। भारतीय सन्दर्भ में युवाल नोआ हरारी के अनुसार इतिहास पढ़ाने के तरीके को बदलने की ज़रूरत है। उन्होंने एक छोटे-से लेख में कई पते की बातें कह दी हैं, जैसे कोई भी सत्ता गणित और भौतिकी पढ़ाने के रंग-ढंग पर बात नहीं करती, इतिहास और मिथक को ही कुरेदती रहती है। वैसे ही, यह अपनी बातों या मान्यताओं को इतिहास की आड़ में बच्चों पर लादने की बात है! और अच्छी बात यह है कि यह हरारी का सबसे ताज़ा लेख है। नई-से-नई चीज़ों को सामने लाने के लिए *संदर्भ* का बहुत-बहुत आभार।

प्रेमपाल शर्मा, दिल्ली

आबोहवा में बदलाव के रोज़ाना अफसाने

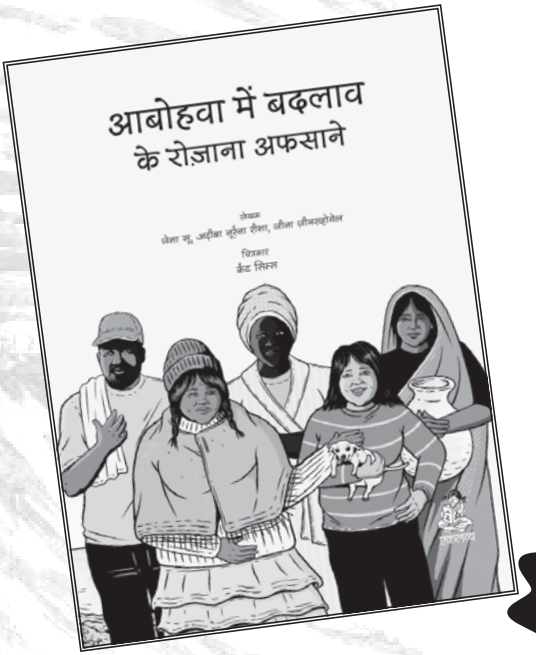

आबोहवा में बदलाव के बारे में बात करते हुए अक्सर हम 'यह धरती गरम हो रही है' या 'बारिश बेहद अनिश्चित होती जा रही है' जैसी बातें करते हैं।

लेकिन सवाल यह उठता है कि इन बदलावों का दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में रहने वाले 'आम परिवारों' पर क्या असर पड़ता है।

अगर आप भी इस बारे में जानने के इच्छुक हैं तो इस ग्राफिक किताब को ज़रूर पढ़ें।

यह किताब अँग्रेज़ी भाषा में भी उपलब्ध है!

मूल्य: 90 रु.

एकलव्य

पता - एकलव्य फाउंडेशन
जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (मप्र)
फोनः +91 755 297 7770-71-72
वेबसाइटः www.eklavya.in;
ईमेलः pitara@eklavya.in

रोज़-रिंग्ड पेराकीट और उनके रिश्तेदार

विपुल कीर्ति शर्मा

बात सात-आठ साल पुरानी है। मैं लम्बी ट्रेन यात्रा से उत्तरप्रदेश जा रहा था। वैसे तो भारतीय ट्रेन में सफर एक रोमांचक अनुभव होता ही है जहाँ तरह-तरह के लोग, तरह-तरह की बातें, व्यवहार, व्यंजन, धर्म, चालाकी, अकेलापन सब देखने को मिल जाते हैं, जो सफर को और यादगार एवं रोमांचक बना देते हैं। मैं ट्रेन के आखरी डिब्बे में था और ट्रेन, सिग्नल न मिलने के कारण आधे घण्टे से गाँव के परिवेश वाले प्लेटफॉर्म पर रुकी हुई थी। प्लेटफॉर्म के अन्त में अनाज की बोरियों को जमाकर रखे गए पहाड़ पर तोतों ने हमला-सा कर दिया था। सैकड़ों की तादाद में वे अपनी चोंच से दाना बटोर रहे थे। अचानक तोतों की आवाज़ तेज़ हो गई और इस वजह से उन्होंने मेरा ध्यान भी खींच लिया। अनाज की बोरियों के बीच, एक चूहे को खोजते रेट-स्नेक ने एक तोते को अपनी गिरफ्त में ले लिया था। अपने साथी तोते को फड़फड़ाता देख अनेक तोतों ने उड़ते-उड़ते साँप की पूँछ को चोंच से काटना शुरू कर दिया। तोतों के इस अचानक हमले से साँप ने तुरन्त ही शिकार को छोड़ा और अनाज की बोरियों के बीच गायब हो गया। भोजन शृंखला का यह सदृश्य उदाहरण काफी रोमांचक था।

तोता या रिंग-नेक्ड पेराकीट

आम भाषा में जिन्हें हम तोता, पोपट, मिट्ठू, पेरट आदि नाम से पुकारते हैं, उनका अँग्रेज़ी नाम रोज़-रिंग्ड पेराकीट या रिंग-नेक्ड पेराकीट है और वैज्ञानिक नाम *सिटेक्युला क्रामरी*। यह भारत की सबसे ज़्यादा दिखने वाली दस पक्षी प्रजातियों में से एक है। अनेक घरों में तो इन्हें पिंजरे में पालकर भी रखा जाता है। ये शहरों-गाँवों और जंगलों में बहुत आसानी-से देखे जा सकते हैं। आप भले ही इन पर ध्यान न दें परन्तु शोर करने की आदत या इनके बातूनी व्यवहार के कारण ये आपका ध्यान बरबस खींच ही लेंगे।

तोते मध्यम आकार के होते हैं। नर और मादा को आप आसानी-से पहचान सकते हैं। वयस्क नर के गले में लाल और काले रंग का पट्टा होता है जबकि मादा (हेन) और अवयस्क तोते में पट्टा प्रायः अनुपस्थित रहता है या कभी-कभी हल्के धूसर रंग का पट्टा दिखता है। मुड़ी हुई लाल चोंच और हरे रंग से इन्हें कोई भी पहचान सकता है।

ये मध्य अफ्रीका और एशिया के मूल निवासी हैं इसलिए अनेक देशों में फैले हुए हैं। बातूनी और आसानी-से पालतू बन जाने की खूबी के कारण ये अनेक देशों में पहुँच गए और फिर दुर्घटना या पिंजरों से बाहर आ जाने के कारण विश्व के एक बड़े भूभाग पर फैल गए। अनुकूलन की अद्भूत क्षमता के कारण ये यूरोप और अमेरिका के बेहद ठण्डे से लेकर गर्म इलाकों तक में फैलते जा रहे हैं। उन देशों में जहाँ के ये मूल निवासी नहीं हैं, वहाँ इन्हें बाहरी (इनवेसिव)

चित्र-1: *रोज़-रिंग्ड पेराकीट में नर व मादा को आसानी-से पहचाना जा सकता है। नर के गले पर पट्टा होता है, जबकि मादा के गले पर यह पट्टा अनुपस्थित होता है।*

प्रजाति मानकर इनकी आबादी का बढ़ना स्थानिक प्रजातियों के लिए खतरा समझा जा रहा है।

रोज़-रिंग्ड पेराकीट तीन साल की आयु में वयस्क होते हैं और तब इन्हें आसानी-से नर और मादा के रूप में पहचाना जा सकता है। नर मादा से कुछ बड़े होते हैं। नर की लम्बाई औसतन 40 सेंटीमीटर और वज़न 135 ग्राम होता है। शरीर की कुल लम्बाई से लम्बी तो इनकी पूँछ होती है।

इनका मुख्य आहार बीज और अनाज हैं इसलिए मुख्य रूप से ये बीजहारी कहलाते हैं। इनके बड़े समूह अनाज एवं फसलों को तबाह कर देते हैं। अनाज के अलावा ये अनेक प्रकार के फल, कीट-पतंगे और फूलों का रस भी खाते हैं। इन्हें अक्सर एक पैर से फल को पकड़कर, मुड़ी चोंच से उसका गूदा निकालकर खाते देखना बड़ा मज़ेदार लगता है। ये स्वभाव के बहुत चंचल होते हैं। अधिकांश पक्षी जहाँ चुपचाप बैठे रहते हैं, वहीं पेराकीट डाल पर लटकते, शोर मचाते, पंख फड़फड़ाते, उड़ते, फिर से बैठते और अठखेलियाँ करते दिख जाते हैं। पिंजरों में पाले जाने वाले पेराकीट को हरी मिर्च भी दी जाती है। इन पक्षियों की जिव्हा में मिर्च का तीखापन महसूस करने वाली स्वाद कलिकाएँ नहीं होतीं, इसलिए उन्हें मिर्ची तीखी नहीं लगती।

भारत में पहाड़ी मैना और रोज़-रिंग्ड पेराकीट को मनुष्य की आवाज़ की नकल करने की अद्‌भुत क्षमता के कारण पिंजरों में पाला जाता है।

गण सिटासिफॉर्मिस में 350 प्रकार के रंगीन पक्षियों को रखा गया है। इस गण में 4 से 40 इंच तक के आकार के पक्षी रखे गए हैं। इनकी चोंच नीचे की ओर झुकी हुई होती है। पैरों की कुल चार में से दो उंगलियाँ आगे तथा दो पीछे की तरफ होती हैं। जीभ पेशीयुक्त होती है। खोपड़ी से दोनों जबड़े इस प्रकार से जुड़े होते हैं कि मांसल जीभ हर दिशा में घूमकर भोजन को अच्छी तरह से काटने में मदद करती है। अधिकांश प्रजातियाँ मुख्यतः बीजभोगी होती हैं किन्तु ये फल और कीट भी मज़े से खाते हैं। इस गण के सदस्य पूरे विश्व में फैले हुए हैं।

प्रजनन व चूज़ों का पालन-पोषण

रोज़-रिंग्ड पेराकीट एक मौसमी प्रजनक प्रजाति है। ये मोनोगेमस होते हैं। मतलब एक प्रजनन ऋतु में एक नर, एक ही मादा के साथ प्रजनन करता है। नई प्रजनन ऋतु में साथी बदले जाते हैं। ये सितम्बर से जनवरी में जोड़े बनाते हैं तथा प्रजनन करते हैं। पेराकीट्स में मादा, नरों को आकर्षित करती है और मादा के इरादों को भाँपकर नर अपनी पूँछ के पर फैलाकर और सिकोड़कर अपनी खूबसूरती दर्शाता

है। ऐसे समय नर अपनी आँखों के प्यूपिल को भी छोटा-बड़ा करता है। नर मादा को उपहार में चोंच से भोजन भी देता है। मादा भी आँखें मटकाकर चोंच से चोंच लड़ाती है। इस प्रकार प्रजनन काल में इनकी प्रणय लीला चलती रहती है।

तोते पेड़ की खोह, पुरानी इमारतों तथा किलों में घोंसले बनाते हैं। ये प्रायः पेड़ों के तने में बने कठफोड़वे या बारबेट के बिल को चौड़ा करके, अपने अधिकार में ले लेते हैं। शोर-शराबे वाले शहरी इलाके की पुरानी इमारतें भी इनसे अछूती नहीं रहतीं। इनका घोंसला गहरा होता है और कई बार घोंसले में सात अण्डे भी देखे गए हैं। किन्तु औसतन ये सफेद रंग के चार अण्डे देते हैं। मादा तीन सप्ताह तक अण्डों को सेती है। इस दौरान नर मादा को खाना खिलाते हैं। परविहीन नंगा शरीर और बन्द आँखों के चूज़ों को नर एवं मादा, दोनों खिलाते हैं। यह क्रम 7-8 सप्ताह तक चलता है। नर एवं मादा आंशिक रूप से पचित भोजन को उल्टी करके चूज़ों को खिलाते हैं। यही समय होता है जब तोतों को बेचने वाले शिकारी पेड़ पर चढ़कर उनके बच्चों को निकाल लेते हैं और पिंजरों में बन्द करके बेच देते हैं। जंगलों में अधिक प्रजनन सफलता के कारण ये एक सफल पक्षी प्रजाति के रूप में उभरे हैं। घोंसलों से निकलने के बाद भी किशोर पेराकीट दो साल तक माता-पिता के साथ बने रहते हैं। रोज़-रिंग्ड पेराकीट का जीवनकाल लम्बा होता है। ये पिंजरों में भी 35 साल तक जीवित रहते हैं इसलिए इनको पालना आसान होता है।

अक्सर पिंजरों में पाले जाने वाले पेराकीट अकेले ही रखे जाते हैं। इसका कारण यह है कि मादा काफी गुस्सैल होती है। पिंजरे में बन्द मादा को यदि नर साथी अच्छा नहीं लगता है तो वह हमला करके उसे घायल कर देती है। यह व्यवहार मादा द्वारा इलाके बनाने यानी अपने क्षेत्र पर अधिकार जताने की प्रवृत्ति को इंगित करता है।

कौन है एलेक्स?

भारत में सामान्य रूप से दिखने वाली पेराकीट प्रजातियों में रोज़-रिंग्ड पेराकीट के अलावा अलेक्ज़ेंड्रिन पेराकीट *(सिटेक्युला युपेट्रीया)* और प्लम-हेडड पेराकीट *(सिटेक्युला साइनोसिफेला)* आसानी-से दिख जाते हैं। इनके अलावा ब्लूविंग्ड पेराकीट *(सिटेक्युला कोलम्बोइड्स)* तथा अण्डमान एवं निकोबार आइलैण्ड की दो प्रजातियाँ रेडचिक्ड पेराकीट और निकोबार पेराकीट भी पक्षी प्रेमियों के बीच काफी प्रसिद्ध हैं।

किन्तु विश्व में सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि पाने वाले तोते का नाम 'एलेक्स' है। वह असाधारण क्षमताओं वाला अफ्रीकन ग्रे पेरट था। वैज्ञानिकों को लगता था कि मानव के बाद

चित्र-2: अलेक्ज़ेंड्रिन पेराकीट

चित्र-3: प्लम-हेडड पेराकीट

सबसे ज़्यादा अक्लमन्द चिम्पांज़ी, गोरिल्ला आदि एप (ape) होते हैं और स्तनधारियों के अलावा अन्य जन्तु समूहों की मानसिक क्षमता इतनी विकसित नहीं है कि उनकी तुलना मनुष्य से की जा सके। किन्तु पेरट एलेक्स ने वैज्ञानिकों की इस गलतफहमी को झुठला दिया। एलेक्स के बुद्धि प्रदर्शन और बातचीत कौशल ने पक्षियों की बौद्धिक क्षमता के बारे में वैज्ञानिकों की धारणा ही बदल दी। एलेक्स की इसी खूबी के कारण 1970 के प्रारम्भ से अगले तीन दशक तक वह मीडिया के आकर्षण का केन्द्र रहा। वन्य प्राणियों पर आधारित वृत्तचित्रों के प्रदर्शन में एलेक्स को प्रश्नों के जवाब देते, रंग और ज्यामिति आकारों में भेद करते, सरल प्रकार का गणित हल करते और बातों द्वारा क्रोध, प्यार और उबाऊपन की भावनाओं को व्यक्त करते हुए दिखाया जाता था जो अक्सर पाँच वर्ष का मानव बालिका/बालक करता है। श्रोता और दर्शक ऐसे अद्‌भुत कमाल देखकर दाँतों तले उँगली दबा लेते थे।

एलेक्स को प्रशिक्षण देने का श्रेय डॉ. आयरीन पेपरबर्ग को जाता है। आइरीन मैक्सिन पेपरबर्ग एक ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक हैं जो तोतों की

सीखने की क्षमता पर कार्य करती हैं। वे अनेक विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक रहीं और वर्तमान में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में शोध सहयोगी और व्याख्याता के रूप में कार्य कर रही हैं। वे प्रथम वैज्ञानिक हैं जिन्होंने जन्तुओं द्वारा भाषा सीखने के व्यवहार पर तुलनात्मक शोध किया है। एलेक्स और पेपरबर्ग का साथ तीस वर्षों तक रहा। उन्होंने 1977 में एक पेट स्टोर से अफ्रीकन ग्रे पेरट खरीदा। वे इसके साथ कुछ प्रयोग करना चाहती थीं। उन्होंने अपने इस तोते का नाम 'एलेक्स' रखा। एलेक्स के प्रशिक्षण के दौरान ही उन्हें इसकी सीखने की क्षमता का भान हो गया था। एलेक्स ने कुछ ही वर्षों में 100 शब्द सीख लिए थे और वह रंग, आकार और अक्षरों को सोच-समझकर सही बताता था।

एलेक्स का प्रशिक्षण व दिक्कतें

एलेक्स को सिखाने के लिए पेपरबर्ग ने 'रायवल (प्रतिद्वन्द्वी) मॉडल' तकनीक का इस्तेमाल किया। सिखाने के इस तरीके में एलेक्स की एक शोधार्थी प्रतिद्वन्द्वी छात्र के रूप में एलेक्स के सामने खड़ी रहती थी। एलेक्स और शोधार्थी से एक प्रश्न पूछा जाता था। सही उत्तर देने वाले को पुरस्कार के रूप में एक वस्तु मिलती थी। पुरस्कार का लालच एलेक्स को सीखने पर मजबूर करता था। प्रमुख बात यह थी कि पुरस्कार के रूप में भोजन देने की बजाय एलेक्स को कोई वस्तु दी जाती थी।

फोटो: इंटरनेट से साभार।

चित्र-4: *वैज्ञानिक आइरीन मैक्सिन पेपरबर्ग और एलेक्स। एलेक्स रंग, आकार और अक्षरों को सोच-समझकर सही बताता था।*

फोटो: इंटरनेट से साभार।

चित्र-5: *वैज्ञानिक पेपरबर्ग ने अपने तोते का नाम भी अपने परीक्षण यानी* Avian Learning EXperiment *के आधार पर* ALEX *रखा था।*

कुछ ही समय में एलेक्स सीखकर इतना निपुण हो गया था कि अन्य तोतों को प्रशिक्षण देने में वह शोधार्थी तक की भूमिका अदा करने लगा था और दूसरे तोते को गलती करने पर सुधारता था। उसके द्वारा चयनित शब्द केवल तोता रटन की बजाय सोचे-समझे लगते थे। जब वह कोई गलती करता था तो 'आई एम सॉरी' कहता था और जब दर्शकों के सामने उसका प्रदर्शन सत्र उबाऊ होने लगता था तो वह कहता था कि मुझे 'वापस जाना है'। बोरियत होने के बावजूद उस पर यदि प्रशिक्षण के लिए दबाव बनाया जाता था तो सही उत्तर जानते हुए भी वह जानबूझकर गलत उत्तर बताकर सत्र को खत्म करने का प्रयास करता था।

एलेक्स को प्रशिक्षण देना कोई आसान कार्य नहीं था। शोध करने और वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए पापड़ बेलने पड़ते हैं। पेपरबर्ग ने अपने शोध को सतत चलाने के लिए अनेक प्रोजेक्ट बनाए किन्तु उनमें से अधिकांश को अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि प्रोजेक्ट चयन समिति के सदस्यों को पक्षियों का सीखना रटना लगता था। आखिरकार अनेक प्रयासों के बाद पेपरबर्ग के शोध को स्वीकार कर लिया गया। पर 2007 में जब यह खुशखबर उन्हें मिली तब तक एलेक्स की मृत्यु हो चुकी थी। पेपरबर्ग ने एलेक्स की मृत्यु पर एक श्रद्धांजलि कार्यक्रम भी आयोजित किया था। विश्वभर के प्रमुख समाचार पत्रों ने एलेक्स के कार्यों और मृत्यु को प्रमुखता से छापा – श्रद्धांजलि का ताँता लग गया था।

ब्राज़ील का स्पिक्स मैकॉ

लिटिल ब्लू मैकॉ, या स्पिक्स मैकॉ *(सायनोप्सिटा स्पक्सी)* ब्राज़ील में पाए जाने वाले सुप्रसिद्ध मैकॉ तोतों की प्रजाति है। ये उपकुल एरिनी के

सदस्य हैं जिसमें नियोट्रॉपिकल पेरट्स को रखा गया है। मैकॉ (मैकॉव में 'व' नहीं बोला जाता है) न्यू वर्ल्ड पैरट का एक समूह है जिसमें अक्सर बेहद सुन्दर और लम्बी पूँछ वाले तोते होते हैं। ये शौकिया तोते पालने वालों के बीच काफी प्रसिद्ध हैं इसलिए इनके प्राकृतिक आवास से इन्हें चुराकर विदेशों में ऊँची कीमत पर बेचा जाता है। विदेशी पालतू जानवरों का व्यापार अत्याधिक लाभदायक है और माना जाता है कि इस अवैध उद्योग ने तोतों की 66 प्रजातियों के अस्तित्व को जंगलों से मिटाने में भूमिका निभाई है। स्पिक्स मैकॉ इनमें प्रमुख हैं। ये मध्यम आकार के तोते होते हैं। अधिकांश प्रकार के मैकॉ को सर्वप्रथम 1819 में ब्राज़ील के पूर्वोत्तर बाहिया में खोजा गया था। इनका शरीर नीले रंग का तथा सिर ग्रे-नीले रंग का होता है। मादा, नर से थोड़ी छोटी होती है किन्तु लैंगिक द्विरूपता स्पष्ट नहीं होती। घोंसले, भोजन और आवास के लिए निश्चित पेड़ों पर निर्भरता इनके जंगल से विलुप्त होने का मुख्य कारण है। ये मुख्य रूप से कैराइबा के बीज से मेवे निकालकर खाते हैं।

चित्र-6: *स्पिक्स मैकॉ का जोड़ा।*

वनों की कटाई के कारण भोजन और आवास का खत्म होना, बीसवीं शताब्दी में इनकी जंगली आबादी में कमी का प्रमुख कारण बना। सन् 2016 में जंगल में आखरी स्पिक्स मैकॉ दिखने के प्रमाण मिले हैं। किन्तु 1980 में ही इनके प्राकृतिक आवासों की पहचान और गिरती आबादी ने सरकार को सावधान कर दिया था। जंगलों में स्पिक्स मैकॉ खत्म हो जाने के बावजूद प्राणी संग्रहालय (ज़ू) और शौकिया मैकॉ पालने वालों के पास काफी संख्या में इनकी आबादी बच गई थी। लगभग 100 पालतू लिटिल ब्लू मैकॉ से प्रारम्भ करके वैज्ञानिक प्रयासों से सन् 2020 तक इनकी आबादी को 180 तक लाया जा सका है। जर्मनी के एक शोध सेंटर में अब कृत्रिम गर्भाधान तकनीक से इनकी आबादी फलने-फूलने लग गई है। इसी बीच ब्राज़ील सरकार ने पिछले बीस सालों में मैकॉ के प्राकृतिक आवास में से एक वृहत क्षेत्र को फिर से ब्लू मैकॉ के प्राकृतिक आवासों में विकसित भी किया है। सन् 2021 में ब्लू मैकॉ को वापस प्राकृतिक आवासों

में छोड़ने की योजना थी। इस योजना के तहत 2020 में 52 ब्लू मैकॉ जर्मनी से ब्राज़ील पहुँचाकर, एक वर्ष तक उन्हें ब्राज़ील में जाली से ढके बड़े बाड़े में छोड़ा गया था जिससे वे अपने प्राकृतिक आवास में ढल सकें और जीवन यापन कर पाएँ।

पिंजरों में जन्म लिए और पले-बढ़े मैकॉ और प्राकृतिक आवासों में पले-बड़े मैकॉ में बहुत अन्तर होता है। आश्रय स्थलों में ब्लू मैकॉ को पालने वाले भोजन देते हैं जबकि प्राकृतिक स्थलों पर भोजन खोजना, शिकारियों से स्वयं की रक्षा, प्रजनन के लिए पेड़ों की खोह खोजना, बच्चों को नर-मादा द्वारा पालना आदि व्यवहार को सीखना और परिष्कृत करना होता है।

यह प्रोजेक्ट भारत के कुनो राष्ट्रीय उद्यान (मध्यप्रदेश) में फिर से अफ्रीकी चीते छोड़ने जैसा ही है। भारत में आखरी चीता 1947 में छत्तीसगढ़ में मारा गया था और 1952 में इन्हें विलुप्त घोषित कर दिया गया था। मुख्य बात तो यह है कि न तो चीते प्राणी संग्रहालय में बच पाए, न ही शौकिया पालने वालों के पास। इसलिए अफ्रीकी चीतों को भारत में लाने का प्रयास किया जा रहा है जो जंगल में ही पले-बढ़े हैं।

ब्लू मैकॉ को आप 2011 में हॉलीवुड में निर्मित कार्टून फिल्म 'रियो' में भी देख सकते हैं।

वुडलैंड उष्णकटिबन्धीय दक्षिण

चित्र-7: *ब्लू-एंड-येलो मैकॉ*

अमेरिका के सवाना में मैकॉ की एक और प्रजाति पाई जाती है जो अपने आकर्षक रंग, बातूनी व्यवहार, लम्बी आयु और बड़े आकार के कारण प्रसिद्ध है। ये हैं ब्लू-एंड-येलो मैकॉ *(आरा अरारुना)* जिन्हें ब्लू-एंड-गोल्ड मैकॉ के रूप में भी जाना जाता है। सर्वप्रथम 1818 में इन्हें ऑस्ट्रिया के एक प्रकृतिविद ने ब्राज़ील के रियो में उड़ते हुए देखा था। शहरीकरण ने इन्हें वहाँ से मिटा दिया। पैराग्वे में भी इनकी आबादी पूरी तरह से नष्ट हो गई। किन्तु बड़े इलाके में फैलाव होने के कारण पैराग्वे में इन्हें पुनः भेजा और बसाया जा रहा है।

तोतों की कुछ अन्य प्रजातियाँ

ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप में और आसपास के कुछ अन्य छोटे द्वीप देशों के यूकेलिप्टस और पाइन के जंगलों में, पर्वतीय क्षेत्रों और मेंग्रोव की ढलानों पर कॉकाटील नामक

तोते पाए जाते हैं। इनकी 21 प्रजातियाँ हैं। इन्हें काकाटुईडी कुल में रखा गया है। ये ऐसे तोते हैं जिनकी नीचे झुकी और मुड़ी चोंच के साथ सिर पर कलगी भी होती है। इच्छानुसार ये कलगी को खड़ा कर सकते हैं। अन्य तोतों की तुलना में इनका शरीर अनेक रंगों वाला न होकर एक ही रंग का होता है। अक्सर ये सफेद और काले रंग के होते हैं। इन पक्षियों को भी पालतू बनाने के प्रचलन की वजह से जंगलों से पकड़ा एवं बेचा जाता है। कॉकटू की पाँच प्रजातियाँ गोफिन्स कॉकटू, लेसर सल्फर कॉकटू, पाम कॉकटू, रेड-वेंटेड कॉकटू और मोलुकन कॉकटू विलुप्त होने की कगार पर हैं और अन्य सभी प्रजातियाँ भी जंगलों में खतरे में हैं।

चित्र-8: कॉकाटील

छोटे आकार के तोतों में बजरीगर भी बहुत प्रसिद्ध हैं। मेलोसिट्टाकस वंश में बजरीगर अकेली प्रजाति है। ऑस्ट्रेलिया के प्राकृतिक आवासों में ये छोटे आकार के तोते हरे-पीले रंग में मिलते हैं। पालतू पक्षी विक्रेताओं ने इन्हें कैद करके वंश वृद्धि कराई और अनेक रंग और बड़ा आकार उत्पन्न कर लिया है। पालतू पशु-पक्षियों में कुत्ते, बिल्ली के बाद शायद इनका नम्बर ही आता है।

तोतों की बातूनी आदत, सुन्दरता और लम्बी आयु इनके लिए परेशानी का सबब भी बन गई है। अनेक तोतों की प्रजातियाँ जंगल से विलुप्त होकर केवल पिंजरों में पल रही हैं। जीन-पूल की कमी के कारण ये अन्तः प्रजनन करने पर मजबूर हैं। ऐसी प्रजातियों को बचाए रखना वैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती होगा।

विपुल कीर्ति शर्मा: शासकीय होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर में प्राणिशास्त्र के वरिष्ठ प्रोफेसर। इन्होंने 'बाघ बेड्स' के जीवाश्म का गहन अध्ययन किया है तथा जीवाश्मित सीअर्चिन की एक नई प्रजाति की खोज की है। नेचुरल म्यूज़ियम, लंदन ने सम्मान में इस प्रजाति का नाम उनके नाम पर *स्टीरियोसिडेरिस कीर्ति* रखा है। वर्तमान में, वे अपने विद्यार्थियों के साथ मकड़ियों पर शोध कार्य कर रहे हैं।

सभी फोटो: विपुल कीर्ति शर्मा।

सिकल सेल एनीमिया: एक आणविक रोग

अंजु दास मानिकपुरी

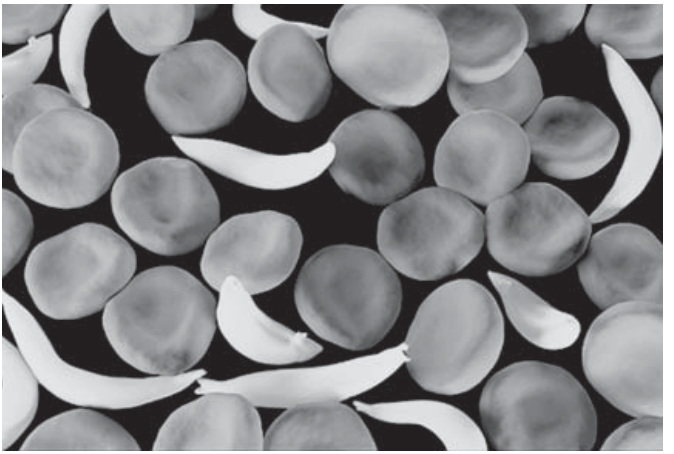

सिकल सेल एनीमिया के बारे में अपनी पढ़ाई के समय बारहवीं तक विज्ञान की पाठ्यपुस्तक में थोड़ा पढ़ रखा था। अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, धमतरी में काम करते हुए छत्तीसगढ़ के विभिन्न हिस्सों में भ्रमण करने का मौका मिला। इस दौरान कई बार ध्यान गया कि गाँव-गाँव में दीवारों पर सिकल सेल एनीमिया के प्रति जागरण सन्देश लिखा हुआ है। इन सन्देशों को देखकर मन में कई सवाल उठे। जैसे,

- सिकल सेल एनीमिया क्या और क्यों होता है?
- क्या यह कोई संक्रमण है या किसी रसायन के कम या ज़्यादा होने से होता है? क्या यह एक संक्रामक बीमारी है?
- सिकल सेल एनीमिया का निदान और इलाज कैसे होता है?

यह बीमारी कई बार बड़ी चिन्ता का कारण बन जाती है। जैसे एक बार तो एक महिला ने बताया कि उनकी बेटी को सिकल सेल एनीमिया है, पता नहीं उसकी शादी भी हो पाएगी या नहीं। शिक्षक बताते हैं कि सिकल सेल एनीमिया से पीड़ित बच्चे अनमने-से बैठे रहते हैं, पढ़ने में बहुत उत्साह नहीं दिखाते, जल्दी ही थक जाते हैं।

एनीमिया खून और उसके कार्य से

जुड़ी एक समस्या है। खून हमारे शरीर में विभिन्न पदार्थों को चारों ओर पहुँचाने का काम करता है और विभिन्न अंगों से चयापचय यानी मेटाबॉलिज़्म के दौरान बने पदार्थों को बाहर का रास्ता दिखाने का भी काम करता है। इनमें से एक प्रमुख काम है फेफड़ों से ऑक्सीजन को लेकर विभिन्न अंगों तक पहुँचाना तथा विभिन्न अंगों में श्वसन के दौरान उत्पन्न कार्बन डाईऑक्साइड को वापिस फेफड़ों तक लाना। जब खून यह काम ठीक से नहीं कर पाता तो ज़ाहिर है, कई समस्याएँ पैदा होने लगती हैं। अंगों को अपने कामकाज के लिए पर्याप्त ऑक्सीजन नहीं मिलती। जब खून में ऑक्सीजन वहन करने की क्षमता कम हो जाती है, तो उस स्थिति को एनीमिया कहते हैं। रक्त की ऑक्सीजन वहन क्षमता या तो इसलिए कम हो जाती है कि लाल रक्त कोशिकाओं की संख्या कम होती है या वे कोशिकाएँ अकार्यक्षम होती हैं। सिकल सेल एनीमिया दूसरे प्रकार का एनीमिया है।

एक नज़र इतिहास पर

1910 की बात है जब एक अमेरिकी चिकित्सक जेम्स बी. हेरिक के पास वेस्टइंडीज़ का एक छात्र आया और बताया कि पिछले पाँच हफ्तों से उसे खाँसी चल रही है। परीक्षा से ठीक दो दिन पहले खाँसी बहुत ज़्यादा हो गई थी और हल्की

चित्र-1: *जेम्स ब्रायन हेरिक एक अमेरिकी चिकित्सक और चिकित्सा के प्रोफेसर थे।*

ठण्ड के साथ बुखार आ रहा था, कमज़ोरी लग रही थी और चक्कर आ रहे थे। इसके पहले जोड़ों में तेज़ दर्द के कारण कुछ दिन पहले वह लगभग दो महीने तक हॉस्पिटल में भी रहा था।

डॉ. हेरिक ने इस छात्र का रक्त परीक्षण करवाया जिसमें कुछ अजीब-सा देखने को मिला। परीक्षण करने वाले अर्नेस्ट ई. आयरन्स को अभी तक ऐसी स्थिति देखने को नहीं मिली थी। हैरतअंगेज़ बात यह थी कि उसकी लाल रक्त कोशिकाओं का आकार बेहद अनियमित था - बहुत सारी लाल रक्त कोशिकाएँ गोल न होकर, लम्बी और अर्ध चन्द्राकार थीं। अचरज के चलते आयरन्स ने कई

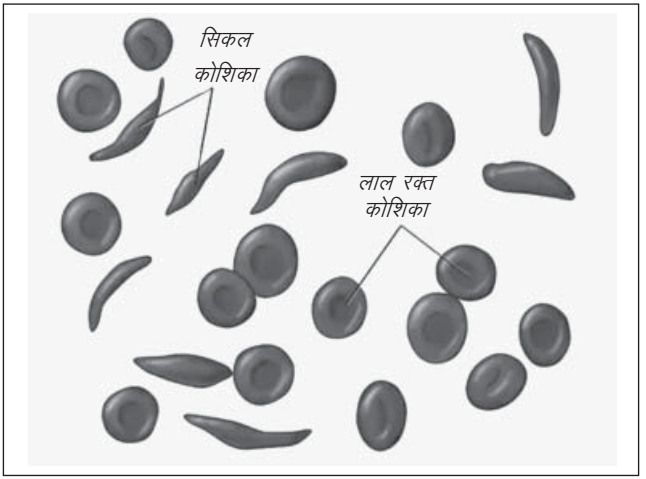

चित्र-2: *सिकल सेल एनीमिया से पीड़ित व्यक्ति की लाल रक्त कोशिकाओं का आकार विकृत हो जाता है - बहुत सारी लाल रक्त कोशिकाएँ गोल न होकर लम्बी और हँसिए के आकार की हो जाती हैं।*

बार परीक्षण को दोहराया। अन्ततः उन्होंने रिपोर्ट डॉ. हेरिक को सौंप दी।

हेरिक ने अपने एक डॉक्टर दोस्त को इस रिपोर्ट का हवाला देते हुए लिखा: 'मेरे इस मरीज़ को दमा रोगियों की तरह साँस लेने में तकलीफ होती है, खून का प्रवाह भी ठीक जान नहीं पड़ता, और थोड़ा भी काम करने से इसका दम फूलने लगता है। इसके शरीर में छाले भी हो रहे हैं। यह आखिर किस बीमारी के लक्षण हो सकते है?'

हेरिक अलग-अलग दवाओं की मदद से इस छात्र की तकलीफ दूर करने की कोशिश करते रहे, लेकिन न तो बीमारी का निदान हो पा रहा था और न ही इलाज। हेरिक ने अपने हर अवलोकन का दस्तावेज़ीकरण किया था।

5 साल बाद 1915 में जेरोम कुक और जेरोम मेयर ने एक 21 वर्षीय महिला और उसके पिता, दोनों के रक्त के नमूने में इसी तरह की लाल रक्त कोशिकाएँ देखीं। इस महिला के परिवार के बारे में पता चला कि उसके तीन भाई-बहनों की गम्भीर एनीमिया से मृत्यु हो गई थी। यह भी देखा गया कि इस मरीज़ के पिता के खून की स्लाइड सामान्य थी लेकिन खून को सीलबन्द करके कुछ दिनों बाद देखने पर लाल रक्त कोशिकाएँ हँसिए जैसी दिखने लग जाती हैं। इसके चलते यह विचार पनपा कि

शायद यह रोग आनुवंशिक है। साथ ही, यह भी समझ में आया कि सम्भव है, इसके वाहक कभी-कभी लक्षण प्रदर्शित न करते हों। इस बीमारी के लिए सिकल सेल एनीमिया नाम पहली बार डॉ. वर्न मैसन ने 1922 में प्रयुक्त किया था।

चूँकि इस रोग के पहले चार मामले अफ्रीकी लोगों में पहचाने गए थे इसलिए शुरुआती दौर में इसे एक 'नस्ल' से जुड़ा रोग मानने की प्रवृत्ति रही और इस पर शोध करने वाले कई सारे वैज्ञानिक सिद्ध करना चाहते थे कि यह 'अश्वेत रक्त' से सम्बन्धित विकार है। बहरहाल, आगे चलकर सिकल सेल रोग के कई मामले भारत, यूनान, तुर्की समेत कई देशों में रिपोर्ट हुए और धीरे-धीरे यह नस्लवादी व्याख्या कमज़ोर पड़ती गई।

इस बीमारी को समझने में जैव-रसायन शास्त्री लायनस पॉलिंग का योगदान महत्वपूर्ण रहा है जिन्होंने 1930 से 1965 के बीच इस पर लगभग 35 साल लगाए। उनका शोध कार्य प्रोटीन की संरचना से सम्बन्धित था। उन्होंने स्पष्ट किया कि सिकल कोशिकाओं में उपस्थित हीमोग्लोबिन (हीमोग्लोबिन-एस) और सामान्य कोशिका में उपस्थित हीमोग्लोबिन (जिसे हीमोग्लोबिन-ए कहते हैं) की रासायनिक संरचनाओं में अन्तर होता है।

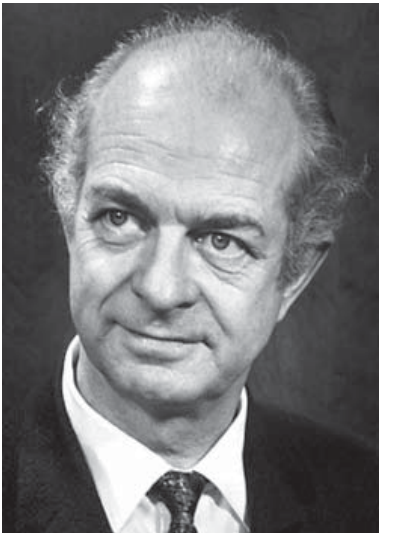

चित्र-3: लायनस पॉलिंग

आखिर क्या हैं ये अन्तर?

हीमोग्लोबिन एक प्रोटीन है जिसमें लौह के परमाणु होते हैं। इसकी एक विशेषता है कि यह ऑक्सीजन के साथ अस्थायी बन्ध बनाता है - जब ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में होती है (जैसे फेफड़ों में) तो यह ऑक्सीजन से जुड़कर ऑक्सी-हीमोग्लोबिन बन जाता है और ऑक्सीजन की कमी हो (जैसे विभिन्न ऊतकों में) तो ऑक्सीजन को छोड़कर डीऑक्सी-हीमोग्लोबिन बन जाता है।

पॉलिंग ने 1949 में यह दर्शाया था कि सिकल सेल एनीमिया से पीड़ित लोगों का हीमोग्लोबिन (हीमोग्लोबिन-एस) स्वस्थ लोगों के हीमोग्लोबिन (हीमोग्लोबिन-ए) से भिन्न होता है और

यह फर्क आणविक स्तर का होता है।

उस समय तक पदार्थों के बीच भेद करने की एक तकनीक विकसित हो चुकी थी – इलेक्ट्रोफोरेसिस। इस विधि में पदार्थों को एक जेलीनुमा माध्यम पर रखा जाता है और फिर उसके एक सिरे पर ऋणावेश तथा दूसरे सिरे पर धनावेश आरोपित किया जाता है। जिस पदार्थ पर ज़्यादा धनावेश होता है, वह ज़्यादा तेज़ी-से ऋणावेश की ओर गति करता है। अर्थात् इलेक्ट्रोफोरेसिस की मदद से अलग-अलग आवेश वाले पदार्थों को अलग-अलग किया जा सकता है।

पॉलिंग ने अलग-अलग लाल रक्त कोशिकाओं से प्राप्त हीमोग्लोबिन का इलेक्ट्रोफोरेसिस करके बताया कि सामान्य सेल वाला हीमोग्लोबिन धनावेश की ओर ज़्यादा तेज़ी-से बढ़ता है। अर्थात् सामान्य हीमोग्लोबिन ज़्यादा ऋणावेशित है। और यह भी पता चला कि दोनों के बीच अन्तर 2 से 4 आवेशों का है। लेकिन अभी यह पता नहीं चल पाया था कि दो तरह के हीमोग्लोबिन में आवेशों का यह अन्तर क्यों है। यह पता लगाने का काम वर्नन इंग्राम ने किया था।

जैसा कि पहले कहा गया, हीमोग्लोबिन एक प्रोटीन है और यह भी अमीनो अम्लों की शृंखला से बना होता है। आम तौर पर प्रोटीन्स 20 अमीनो अम्लों के अलग-अलग संयोजन और क्रम से निर्मित होते हैं। इंग्राम ने दोनों हीमोग्लोबिन की अमीनो अम्ल शृंखलाओं का विश्लेषण किया तो पता चला कि हीमोग्लोबिन-एस और हीमोग्लोबिन-ए में कुछ अमीनो अम्लों का अन्तर होता है। और इसी वजह से इनके आवेश में भी अन्तर होता है। दरअसल, काफी सटीकता से किए गए प्रयोगों के आधार पर स्पष्ट हो गया था कि हीमोग्लोबिन-ए में छठवाँ अमीनो अम्ल ग्लूटामिक अम्ल होता है और हीमोग्लोबिन-एस में इसके बदले दूसरा अमीनो अम्ल वेलिन आ जाता है। इसीलिए सिकल सेल एनीमिया को E6V के रूप में भी जाना जाता है।

आकार का परिणाम

सामान्य लाल रक्त कोशिका सिक्के की तरह होती है। हमारे शरीर में खून शिराओं और धमनियों में बहता है और इन वाहिनियों को जोड़ने वाले हिस्से एकदम संकरे होते हैं जिन्हें केशिकाएँ कहते हैं। इन संकरी केशिकाओं से गुज़रने के लिए लाल रक्त कोशिकाओं को अपना आकार थोड़ा बदलकर सिकुड़ना पड़ता है। सामान्य लाल रक्त कोशिका में हीमोग्लोबिन के लचीले होने के कारण यह सम्भव हो पाता है। जैसे ही लाल रक्त कोशिका संकरी केशिका से निकलकर शिराओं में पहुँचती है, यह हीमोग्लोबिन फिर से फैल जाता है और लाल रक्त कोशिका फिर से अपने आकार में

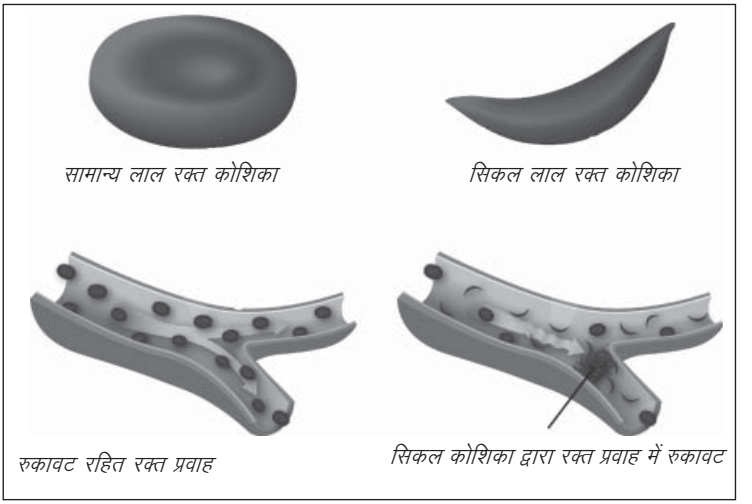

चित्र-4: *शिराओं और धमनियों को आपस में जोड़ने वाली केशिकाएँ काफी संकरी होती हैं जिनमें से गुज़रने के लिए सामान्य लाल रक्त कोशिका हीमोग्लोबिन के लचीले होने के कारण सिकुड़ जाती है। लेकिन सिकल कोशिका के हीमोग्लोबिन में इतना लचीलापन नहीं होता और वे केशिकाओं में फँसकर रह जाती हैं। इस वजह से थक्के बन जाते हैं और रक्त प्रवाह अवरुद्ध होता है।*

वापस आ जाती है। हीमोग्लोबिन-एस में इतना लचीलापन नहीं होता और वे केशिकाओं में फँसकर रह जाती हैं। इस वजह से थक्के बन जाते हैं और रक्त प्रवाह अवरुद्ध होता है।

हीमोग्लोबिन, ऑक्सीजन और एनीमिया

जैसा कि लेख के शुरुआती हिस्से में चर्चा हुई, लाल रक्त कोशिका में मौजूद हीमोग्लोबिन फेफड़ों से शरीर के अन्य भागों तक ऑक्सीजन ले जाने के लिए ज़िम्मेदार होता है। फेफड़ों में, हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन के साथ बन्ध जाता है और ऑक्सी-हीमोग्लोबिन बनता है। ऊतकों में पहुँचकर यह ऑक्सीजन को छोड़ देता है और डीऑक्सी-हीमोग्लोबिन बनता है। जहाँ तक कार्बन डाईऑक्साइड को वापिस फेफड़ों तक पहुँचाने का काम है, तो उसमें हीमोग्लोबिन की भूमिका नगण्य होती है।

हीमोग्लोबिन एक प्रोटीन है जिसका विश्लेषण 1935 में लायनस पॉलिंग ने पहली बार किया और अगले दस सालों तक यानी 1945 तक ऐसे रोगी जिन्हें सिकल सेल एनीमिया बीमारी थी, उनके रक्त के नमूने लेकर हीमोग्लोबिन की जाँच करते रहे। लायनस एक कुशल जैवरासायनज्ञ थे और बहुतेरे अनुभव

ने उन्हें इस रोग को समझने में मदद की। चार साल बाद उन्होंने अपने तीन साथियों के साथ मिलकर एक शोध पत्र लिखा था 'सिकल सेल एनिमिया: एक आण्विक बीमारी'। यहाँ एक बात बता देना ठीक होगा। पॉलिंग स्वयं यूजेनिक (यानी प्रजनन पर नियंत्रण करके नस्ल सुधार) के समर्थक थे और उनको लगता था कि सिकल सेल एनिमिया के लक्षणों वाले लोगों या इसके वाहक लोगों को बच्चे पैदा करने से रोका जाना चाहिए।

खोजबीन पर तीन प्रमुख बातें पता चलीं –

1. हीमोग्लोबिन-एस के अणु जब ऑक्सीजन रहित (डीऑक्सी-हीमोग्लोबिन-एस) होते हैं तो उनमें आपस में जुड़कर बहुलक बनाने की प्रवृत्ति होती है। बहुलक बनने की वजह से इनकी ऑक्सीजन वहन करने की क्षमता कम हो जाती है।
2. हीमोग्लोबिन-एस के ये बहुलक तन्तुनुमा होते हैं जिसके कारण वह कोशिका सख्त हो जाती है, चिपचिपी हो जाती है और हँसिये का आकार ग्रहण कर लेती है। इसके अलावा सख्त हो जाने की वजह से इन कोशिकाओं की बाहरी झिल्ली पर काफी दबाव पड़ता है और वे फट जाती हैं। इसी कारण से सिकल कोशिका की आयु कम होती है। जहाँ सामान्य लाल रक्त कोशिकाओं की आयु लगभग 120 दिन होती है, वहीं सिकल रक्त कोशिकाएँ मात्र 10-12 दिन जीवित रह पाती हैं। शरीर इतनी तेज़ी-से हीमोग्लोबिन और लाल रक्त कोशिकाओं का निर्माण नहीं कर पाता जिसकी वजह से खून में लाल रक्त कोशिकाओं की कमी हो जाती है।
3. चूँकि ये कोशिकाएँ सख्त होती हैं, ये रक्त वाहिनियों में फँस जाती हैं और रक्त प्रवाह में बाधा आती है। यह संकट की वजह बन जाती है। अचानक कुछ अंगों तक रक्त नहीं पहुँच पाता और ऑक्सीजन की कमी हो जाती है। साथ ही, पोषक पदार्थों का भी अभाव होने लगता है।

सिकल सेल एनीमिया के निदान और इलाज पर हम आगे के अंक में बात करेंगे।

अंजू दास मानिकपुरी: स्नातक व स्नातकोत्तर की कक्षाओं को असिस्टेंट प्रोफेसर के रूप में छह वर्षों तक रसायन शास्त्र पढ़ाया। अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, छत्तीसगढ़ में विज्ञान की स्रोत व्यक्ति के तौर पर काम किया। वर्तमान में टीचर्स प्रोफेशनल डेवलपमेंट, पिरामल फाउंडेशन, भोपाल में बतौर सीनियर प्रोग्राम मेनेजर कार्य कर रही हैं। बच्चों के साथ विज्ञान की अवधारणाओं पर बात करने में रुचि।

सम्पादन: सुशील जोशी।

बीती ताहि ध्यान रख...

कालू राम शर्मा

स्कूल की दूसरी पाली का वक्त हो चुका था। चन्दू और इसरार समेत अन्य बच्चे अपने-अपने घरों से तरह-तरह के बीज लेकर आए थे। जब मास्साब स्कूल में नहीं दिखे तो वे *बाल विज्ञान* के पीरियड में काम में व्यस्त हो गए। मासिक बैठक में जाने के एक दिन पहले मास्साब ने बच्चों से कहा था कि कुल्हड़ों में मिट्टी भरकर बीजों को बोना है। और यह भी कहा था कि बीज जैसे ही उगने लगें, तब उनका नियमित रूप से अवलोकन करना होगा।

चन्दू और इसरार, दोनों असमंजस में थे कि आखिर क्या अवलोकन लेना होगा। जब उन्होंने मास्साब से पूछा तो मास्साब ने जवाब के बदले दोहे के रूप में कुछ कह दिया, "बीती ताहि ध्यान रख।"

इसरार और चन्दू इस पहेलीनुमा दोहे को, जिसे मास्साब ने एक खास सन्दर्भ में ढाला था, नहीं समझ पाए। जाते-जाते मास्साब ने ज़ोर देकर कहा कि यह काम लम्बा होगा। कई दिनों तक चलेगा यह प्रयोग।

करना क्या है?

कक्षा में मास्साब के न होने के बावजूद बच्चे बीजों को बोने के लिए मिट्टी के कुल्हड़, टिन वगैरह के खाली डिब्बे, पत्ते के दोने इकट्ठे कर रहे थे। दरअसल, बच्चे अब मास्साब के निर्देशों को समझकर अपने स्तर पर काम करना सीख गए थे।

वैसे बच्चों को मास्साब ने यह भी कहा था कि जैसे कक्षा छठी में बीजों के अंकुरण वाले पाठ में अलग-अलग तरह के बीजों को बोया था, उसी ढंग से मगर केवल दो कुल्हड़ों में ही बीजों को बोना है। उन्होंने यह भी बताया था कि एक कुल्हड़ में मक्का, ज्वार या गेहूँ और दूसरे में चना, बटला (मटर), मूँग बोना है।

केशव ने अपनी टोली वालों से

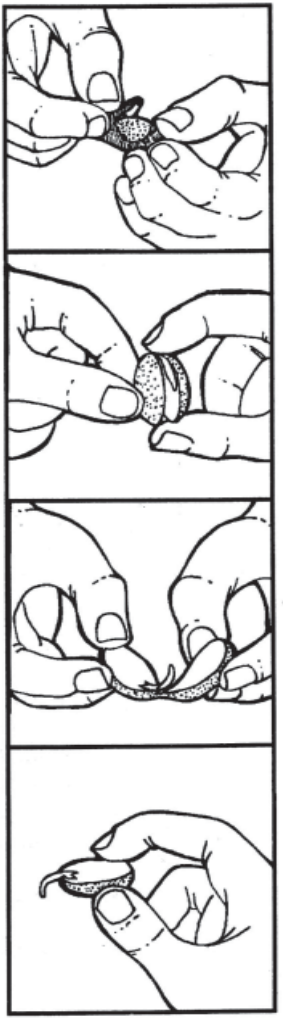

पूछा, “यार, यह तो बीजों वाला पाठ है, फिर इसका नाम वृद्धि क्यों रखा होगा?”

टोली के बाकी सदस्यों ने केशव के सवाल को अनसुना कर दिया। केशव का ध्यान अब तक कहीं और बँट गया, और वह भी अपने द्वारा पूछे गए सवाल को भुला चुका था।

सभी टोलियों ने बीजों के प्रयोग सेट कर लिए थे। तरह-तरह के कुल्हड़ों में अलग-अलग टोलियों ने बीजों को बोया था। बारीक मिट्टी को कुल्हड़ों में भर, उसमें लगभग एक इंच अन्दर बीजों को बोकर पानी से सींच दिया था।

“अरे, पर यह तो कोई बताए कि अब आगे करना क्या है?” नारंगी झुँझला रही थी।

“ये पता होता तो मैं मास्साब नहीं बन जाता...” केशव ने दो टूक जवाब दिया।

“अरे, तुझसे तो कोई उम्मीद भी नहीं कर रही।” नारंगी की झुँझलाहट कम नहीं हो रही थी।

नारंगी ने बस्ते में झाँका। वह तो *बाल विज्ञान* आज घर पर ही भूल आई थी। उसने अपनी टोली के सदस्य, विष्णु से बड़े ही विनम्र अन्दाज़ में कहा, “ऐ... विष्णु... ज़रा अपनी *बाल विज्ञान* तो दे।”

विष्णु ने मज़ाकिया अन्दाज़ में कहा, “क्यों? मास्साब तो हैं नहीं, फिर *बाल विज्ञान* का क्या करेगी?”

“अरे, मज़ाक छोड़!” यह कहते हुए नारंगी ने विष्णु के बस्ते में से *बाल विज्ञान* निकाली और पन्ने पलटने लगी। नारंगी के साथ केशव और रघु भी शामिल हो चुके थे। केशव बोला, “अरे, वृद्धि वाला पाठ ग्राफ के बाद में है।”

"हाँ, ये तो पता है मुझे भी। चल, अपन यह देखें कि अब आगे करना क्या है..." नारंगी की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हुए केशव और रघु किताब में झाँकने लगे।

शाम को स्कूल की छुट्टी हुई तो बच्चे अपने-अपने कुल्हड़ों को घर ले गए।

छूना नहीं!

बच्चे स्वतंत्र रूप से प्रयोगों की सामग्री खोजने और प्रयोग करने की क्षमता हासिल कर पाए थे। मगर प्रयोग के आधार पर निष्कर्ष निकालने में पक्के नहीं हुए थे। कक्षा में बहुत-कुछ काम मास्साब के इशारों पर होता था। इसकी एक वजह यह भी थी कि बच्चे किताब में से पढ़कर अपने स्तर पर कुछ करने की दक्षता हासिल नहीं कर पाए थे। कई बार तो वे 'अगले कदम पर क्या करना है और क्यों करना है' जैसी बातें नहीं समझ पाते थे। वैसे यह स्वाभाविक भी है। इस प्रयोग में बच्चों को यह पता नहीं था कि आखिर बोए गए बीजों के साथ करना क्या है।

स्कूल आते हुए बच्चों के हाथों में कुल्हड़ थे। पूर्व के अनुभव कुछ इस तरह के रहे थे कि छुट्टी की वजह से स्कूल बन्द हो जाए तो पानी न मिलने पर पौधे मर जाते। ऐसे भी अनुभव रहे हैं कि स्कूल में चूहे, बीजों के उगने के पहले ही उन्हें खा जाते। इन वजहों से प्रयोग असफल हो जाते थे।

अगले दिन, कक्षा की दोनों खिड़कियों में बच्चों ने टोलीवार कुल्हड़ रख दिए थे। मास्साब कक्षा में आ चुके थे। मास्साब को कक्षा में देख टोलियाँ बन चुकी थीं। कुल्हड़ों में बीज फूटने लगे थे। काली मिट्टी में से हल्के हरे-सफेद रंग की रचनाएँ सुन्दर लग रही थीं। बच्चे इन रचनाओं को देख तो रहे थे मगर उन्हें छू नहीं रहे थे। साथ ही, वे उगे हुए पौधों की ओर सीधी उँगली से इशारा भी नहीं कर रहे थे। वे अपनी तर्जनी उँगली को मोड़कर दूर से इशारा करते। इस पर मास्साब कुछ ताज्जुब जता रहे थे। मास्साब ने बच्चों से इस पर बात करना उचित समझा।

"अच्छा, यह तो बताओ कि तुम लोग पौधों को सीधी उँगली क्यों नहीं दिखा रहे?"

बच्चों के पास इसका कोई जवाब नहीं था कि वे आखिर नए-नवेले पौधों को या फूलों को सीधी उँगली क्यों नहीं दिखाते। जब मास्साब ने पूछा तो वे सोचने लगे। लच्छू ने अपनी टोली में खुसुर-फुसुर की। खुसुर-फुसुर अब पूरी कक्षा में शुरू हो चुकी थी। डमरू हिम्मत कर नादान स्वर में बोला, "मर जाते हैं उँगली दिखाने से।"

पूरी कक्षा ने राहत की साँस ली कि चलो डमरू ने कुछ तो जवाब दिया। अब सोच में डूबने की मास्साब

की बारी थी। वे सोच रहे थे कि हो-ना-हो, ऐसा समाज में होता होगा, सो बच्चों ने वहीं से सीखा होगा। अब मास्साब बोले, "तो तुम लोगों को ऐसा नहीं लगता कि क्यों न ऐसा कुछ जाँचकर देखें?"

मास्साब ने एक और दाँव फेंककर अपने आप को मुक्त कर लिया था। बच्चे फिर से सोच में डूब गए।

भागचन्द्र को संकोच सता रहा था कि अगर वह कुछ भी बोलेगा तो मास्साब और कक्षा के सभी लोग उसकी हँसी उड़ाएँगे। मगर फिर भी वह बेपरवाह होकर बोला, "मास्साब, गिलकी, लौकी की बेल को हाथ लगाकर छेड़-छाड़ कर दो तो उनमें फल गल जाते हैं... यह पक्की बात है।"

"अच्छा, तो बात यह है!" मास्साब अनुमान लगा रहे थे कि अगर किसी बेल में, जिसमें फल बन रहे हों और उसके साथ छेड़खानी की जाए, तो हो सकता है कि फल बनने की प्रक्रिया में बाधा आ जाए। "तो ऐसा क्यों नहीं करते कि बेल में लगे फूल को उँगली दिखाएँ और फिर देखें कि फल लगता है कि नहीं...?"

"बेल में नर फूल को उँगली बताना फिर देखना...," केशव ने कहा। केशव की टोली वाले समझ नहीं पा रहे थे कि वह पूछ रहा है या बता रहा है।

मास्साब ने सुन लिया था। "अरे... यह तो तुम जानते ही हो कि फल हमेशा मादा फूल से ही बनता है। इसलिए नर फूल को उँगली बताने से समझ में नहीं आएगा। मादा फूल को उँगली बताना और फिर कुछ दिनों के बाद देखना।"

केशव बोला, "अगर फल बनने में नर फूल का भी हाथ है तो फिर नर फूल को भी उँगली दिखाकर देखना चाहिए कि क्या यह बात सही है।"

दरअसल, 'प्रजनन' नामक अध्याय में बच्चों से एक प्रश्न पूछा गया है कि फूल से फल बनने में नर फूल की क्या भूमिका होती है। यही बात केशव ने आज़मानी चाही। यही असल विज्ञान है जिसमें बच्चों को अपने स्तर पर आज़माने की गुंजाइश होती है।

मास्साब फिर सोच में डूब गए थे। वे सोच रहे थे कि फूल से फल बनने की प्रक्रिया किसी और वजह से भी प्रभावित हो सकती है। अगर किसी और वजह से फल बनने की प्रक्रिया रुक गई, और फल गल गया तो बच्चे तो यही समझेंगे कि उनके उँगली दिखाने से फल गल गया। मगर वे बच्चों को समझाने में अपने आपको असहाय महसूस कर रहे थे।

"तो चलो, ज़रा करके देखना। और पूरी कक्षा के बच्चे करके देखेंगे।"

पीरियड खत्म होने की घण्टी बज चुकी थी। चर्चा की वजह से कुल्हड़ों में बोए बीज, जो उग आए थे, उनके अवलोकन का मामला आगे नहीं बढ़ पाया था।

अगले दिन...

मास्साब आज कक्षा में धागे की गट्ठी और स्केल लेकर आए थे। बच्चे आज फिर से कुल्हड़ों को लेकर आए थे। मास्साब टोलियों के बीच पहुँच चुके थे। उन्होंने कुल्हड़ों में देखा कि कई सारे बीज अंकुरित हो चुके हैं। उन्होंने देखा कि प्रत्येक टोली में दो कुल्हड़ों में से एक में एकबीजपत्री पौधे हैं और दूसरे में द्विबीजपत्री। लगभग सभी टोलियों में यही पैटर्न साफ-साफ दिखाई दे रहा था। किसी ने गेहूँ बोए थे, तो किसी ने ज्वार और किसी ने मक्का। द्विबीजपत्री में भी ऐसा ही कुछ था। चना, सेम, मटर, मूँगफली के बीज मिट्टी में से बाहर निकल आए थे।

मास्साब छत की ओर ताक रहे थे। वे तल्खी-से बोले, "मैंने कहा था कि जब बीज उग आएँ तो एक ही पौधे को रहने देना और बाकी के उखाड़ देना। मगर ऐसा किसी ने भी नहीं किया... जितना मैं कहूँ उतना कर लिया करो!"

बच्चे सोच रहे थे कि मास्साब ने ऐसा कुछ तो कहा ही नहीं था। फिर मास्साब क्यों नाराज़ होते दिख रहे हैं?

इसरार बोला, "मास्साब, यह बात तो आपने बताई ही नहीं..."

मास्साब कुछ याद करने की कोशिश कर रहे थे। वे सहज होकर बोले, "सच... मैंने ऐसा नहीं बताया...?"

टोलियाँ अपने-अपने कुल्हड़ों में से पौधों को उखाड़ रही थीं। जब वे पौधों को कुल्हड़ों में से उखाड़ रहे थे तो नए-नवेले पौधों के साथ लगे हुए बीज भी दिखाई दे रहे थे। बीज के एक ओर जड़ वाला हिस्सा दिखाई दे रहा था, जो झक सफेद था, और ऊपर की ओर वाला हिस्सा हल्का हरापन लिए था, जिसमें झालरदार पत्तियों-सी रचनाएँ दिखाई दे रही थीं।

मूँगफली में और भी मज़ेदार बात देखने को मिली थी। मूँगफली के बीजपत्र मिट्टी से बाहर आकर हरे रंग के हो चुके थे।

चन्दर ने छूकर देखा कि चने का अंकुरित बीज अन्दर से पिलपिला हो चुका है और बीज का छिलका कमज़ोर होकर सलवटें खा चुका है। उसने आखिर मास्साब से पूछ ही लिया, "अब इस बीज का क्या होगा?"

मास्साब को चिन्ता सताए जा रही थी कि अगर इस पाठ में ज़्यादा वक्त लगा दिया तो बाकी के पाठ छूट जाएँगे। फिर इस पाठ में से परीक्षा में तो कुछ खास पूछा नहीं जाता। चन्दर के सवाल को वे समय के लिहाज़ से टालना चाह रहे थे।

"छोड़ो ये सब सवाल! अब तुम्हें करना क्या है, यह जान लो..."

बिसरी बीती

बच्चे मास्साब के निर्देश का इन्तज़ार कर रहे थे। "देखो, अब ये

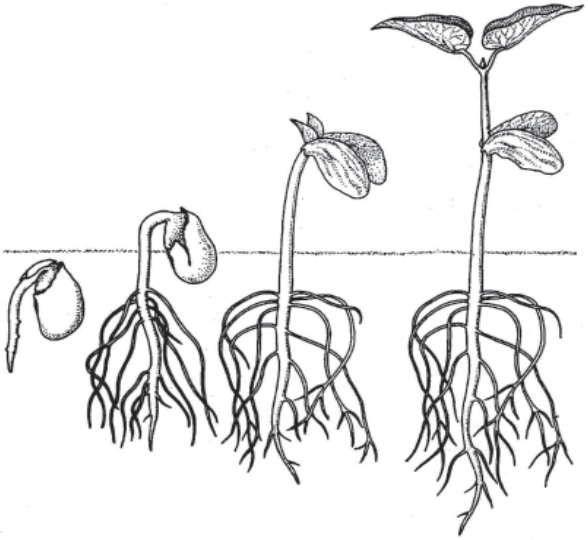

तुम्हारी ज़िम्मेदारी है कि इन पौधों को पानी वगैरह दो। और बाकी का काम अपने घर पर ही करते रहो। कोर्स पूरा करना भी ज़रूरी है। यह प्रयोग महीने भर चलेगा। इसलिए बाकी का काम घर पर ही करना होगा।" मास्साब इतना कहकर बोर्ड पर तालिका बनाने में जुट गए।

जब मास्साब बोर्ड की ओर मुँह करके तालिका बना रहे थे, तब चन्दू ने पूछा, "मास्साब, आपने उस दिन कहा था - बीती ताहि..."

मास्साब तालिका बनाते हुए चन्दू समेत सभी बच्चों को सम्बोधित कर रहे थे, "हाँ... क्या दोहा है... 'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय...' है ना...? तो मैं उसे पलटकर कहता हूँ कि बीती ताहि ध्यान रख... मैं कहना यह चाह रहा हूँ कि तुम लोगों ने जो स्केल से मापने के अभ्यास छठी में किए थे वो यहाँ बहुत काम आने वाले हैं। अब बात समझ में आई न?"

बाल वैज्ञानिक के पाठ्यक्रम में इस बात का काफी ध्यान रखा गया था कि अचानक बीच में कोई ऐसी सहायक अवधारणा न आ टपके जिसकी समझ बच्चों में न हो। जैसे कि दूरी नापने के हुनर का इस्तेमाल अगर पौधों को नापने में किया जाना है, तो बच्चे इसे पहले ही सीख लें। यही वजह है कि मापन पर पूर्व की कक्षाओं में समझ बनाने की भरपूर कोशिश की गई। मापन एक मूल अवधारणा है जिसका इस्तेमाल न केवल आगे की कक्षाओं में किया

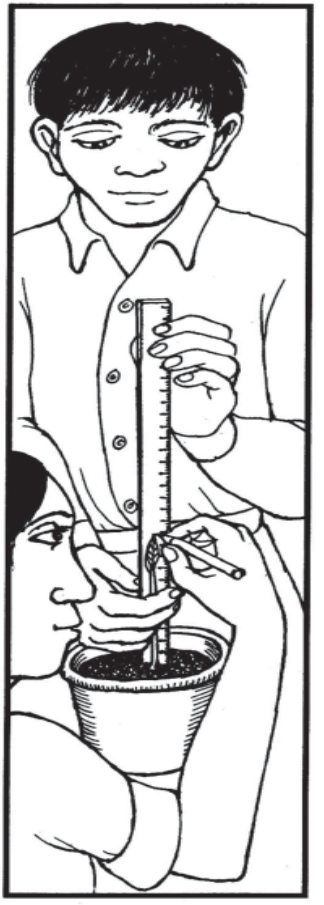

जाना है बल्कि जीवन भर इस हुनर से वास्ता पड़ेगा।

बच्चों को कुछ-कुछ समझ में आ रहा था। बोर्ड पर बनाई तालिका के बारे में मास्साब बता रहे थे कि इसमें रोज़ाना अपने अवलोकन लिखने हैं। मापन का जो अभ्यास छठी में करवाया गया था, उसके आधार पर रोज़ाना पौधों को मापकर तालिका में लिखना होगा। मास्साब को शक था कि हो सकता है कि बच्चे छठी में मापन के किए गए अभ्यास को भूल बैठे हों। इसलिए वे आज फिर से मापन का अभ्यास करवाने के मूड में थे।

क्या मापन याद है?

मास्साब ने एक टोली से कहा, "एक कुल्हड़ देना ज़रा..."

चन्दर ने द्विबीजपत्री पौधे वाला कुल्हड़ मास्साब की टेबल पर रख दिया। मास्साब कुल्हड़ को हाथ में लेकर उगे पौधों को ध्यान से देख रहे थे। उनके निर्देशानुसार बच्चे टेबल को घेरकर खड़े हो गए थे। मास्साब ने स्केल का एक सिरा कुल्हड़ में टिकाकर नन्हे पौधे के लम्बवत में खड़ा कर दिया। फिर उन्होंने लच्छू से पूछा, "बताओ, पौधे की ऊँचाई।"

लच्छू पौधे की ऊँचाई पढ़ने में नाकामयाब दिख रहा था। मास्साब ने धैर्य रखते हुए लच्छू के पास खड़े डमरू से पूछा। डमरू बोला, "मास्साब... दो... तीन।"

मास्साब समझ चुके थे कि डमरू क्या कहना चाह रहा था। "इसका मतलब क्या है, भई? यह दो-तीन से बात नहीं बनने वाली है... अब तुम लोग आठवीं में आ चुके हो।"

नाकामयाब लच्छू को पछतावा हो रहा था कि माप लेना तो उसे आता है फिर वह क्यों नहीं बता पाया। वह

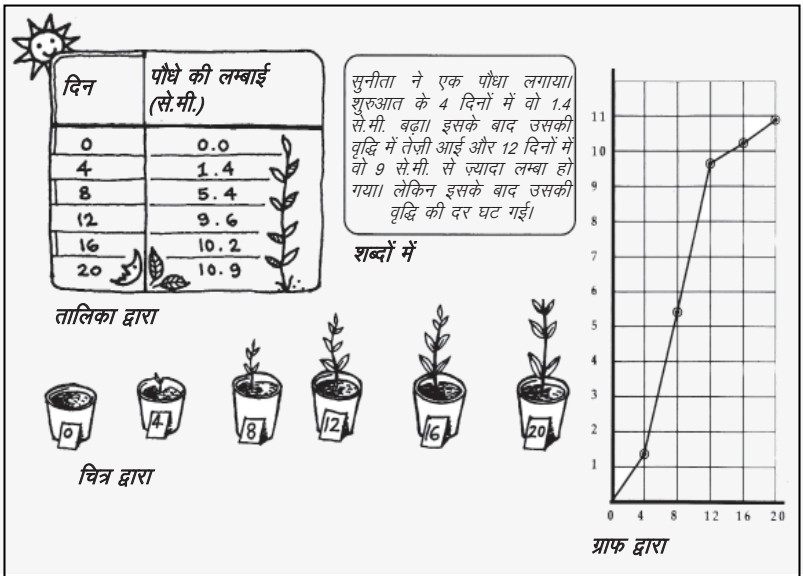

बाल वैज्ञानिक कक्षा-7 के अध्याय 'ग्राफ बनाना सीखें' में दिया गया एक उदाहरण।

अपने आपसे नाराज़ हो रहा था कि आखिर क्यों नहीं बता पाया पौधे की माप। उसने उतावला होकर कहा, "मास्साब, दो से.मी., चार मि.मी.!"

मास्साब खुश हुए। "सही कहा... दो सेण्टीमीटर और चार मिलीमीटर।"

डमरू तो कुछ बोला नहीं मगर भागचन्द्र बोला, "सही कौन है, यह कौन तय करेगा? कोई कह रहा है, दो सेण्टीमीटर तीन मिलीमीटर और कोई कह रहा है दो सेण्टीमीटर और चार मिलीमीटर... किसे सही मानें?"

इसरार मास्साब के पीछे से हटकर सामने की ओर, लच्छू की बगल में आ गया। उसने कुल्हड़ में लगे पौधे को हाथ से थोड़ा सहारा देकर सीधा किया और पैमाना खड़ा किया। उसने माप पढ़ी, "मास्साब, दो पॉइंट चार।"

मास्साब मुस्कराए।

"घट-बढ़ तो होगी न..."

"वेरी गुड..." मास्साब ने यह कहते हुए भागचन्द्र की ओर गर्दन घुमाई। "बीती ताहि ध्यान रख! अभी आगे-आगे देखते जाओ... ये जो माप तुम लोग ले रहे हो, इन आँकड़ों से ग्राफ बनाना होगा। जो भी माप लो, वह ध्यान से लो। दूसरा, कोई आड़ी-टेढ़ी चीज़ हो तो धागे की मदद से मापो।" मास्साब धागे की गट्टी इसीलिए कक्षा में लेकर आए थे। चूँकि पौधा सीधा था इसलिए सीधे ही स्केल से माप लिया था।

"धागे से कैसे मापना है, यह हम एक बार और करके देख लेते हैं।" टेबल के आसपास खड़े बच्चों के ऊपर से नज़रें दौड़ा कर मास्साब ने इशारा किया, "वो सेम वाला कुल्हड़ लेकर आना ज़रा।"

मास्साब बोले, "देख रहे हो न...? यह पौधा एकदम सीधा नहीं है। इसको धागे से मापना होगा। तभी इसकी माप सही आएगी... कौन मापेगा धागे से?" मास्साब ने नज़रें दौड़ाईं और विष्णु पर अटका दीं। "लो, तुम मापो।"

विष्णु ने धागे की गट्टी में से धागे को तोड़ा और फिर उसको दोनों हाथों से पकड़कर कुल्हड़ में मिट्टी की सतह से पौधे के ऊपरी भाग तक तान दिया। ऊपर से धागे को उँगलियों की चिमटी में कसकर पकड़ लिया। अब धागे को स्केल पर रखकर माप लिया।

विष्णु बोला, "दो पॉइंट सात।"

मास्साब विष्णु की पीठ थपथपाते हुए बोले, "शाबाश! एक बात और कहनी है। तुम लोग आठवीं में आ गए हो मगर जो माप बता रहे हो उसकी इकाई तो बताते ही नहीं... 'दो पॉइंट सात' आखिर क्या है, भई?"

विष्णु बोला, "मास्साब, दो सेण्टीमीटर सात मिलीमीटर।"

"हाँ, बिलकुल ठीक कहा! जब तक तुम इकाई नहीं लिखोगे तब तक यह जवाब अधूरा रहेगा। क्योंकि अगर तुम किसी से कहते हो कि 'दो' तो इसके कई अर्थ हो सकते हैं। यह दो 'किलो' भी हो सकते हैं और दो 'लीटर' भी या 'किलोमीटर'..."

मास्साब अभी पूरा भी नहीं कर पाए थे कि लच्छू बोल पड़ा, "दो 'पत्थर' भी हो सकते हैं..."

"यह बहुत ज़रूरी है कि हम इकाई लिखें। जब हम ग्राफ बनाएँगे तब भी दोनों अक्षों पर इकाई ज़रूर लिखनी होगी। इन पौधों की बढ़त के बीस-पच्चीस दिनों के आँकड़े हमारे पास होंगे तो फिर हम ग्राफ बनाएँगे। ग्राफ बनाने में हम कौन-कौन-सी दो राशियाँ लेंगे?"

गड़बड़ कहाँ है?

मास्साब सोच में डूब गए। अगर मापन और ग्राफ की आधारभूत समझ होगी, तो ही बच्चे वृद्धि को समझ पाएँगे; वरना यह कर्मकाण्ड बन जाएगा। मास्साब इन्तज़ार कर रहे थे, बच्चों के जवाब का। उन्होंने तो दूरी और समय के अनेक ग्राफ बनवाए थे। कई सारे उदाहरणों के माध्यम से ग्राफ की समझ विकसित करने की कोशिश की थी। मास्साब सोच रहे थे – "गड़बड़ कहाँ है? मेरे पढ़ाने के तरीके में या बच्चों में?" आखिर उन्हें एहसास हुआ कि बच्चों को ठीक-से समझाने में वे स्वयं ही नाकामयाब रहे हैं।

मास्साब मदद करने ही वाले थे कि पीछे से सुनाई दिया। यह आवाज़ डमरू की थी। "समय और दूरी।"

मास्साब ने डमरू को अपनी ओर बुलाया। "हाँ, बिलकुल सही कहा तुमने।"

डमरू का जवाब सुनकर मास्साब को थोड़ी तस्सली ज़रूर हुई। असल में, मास्साब ने समय और दूरी के ग्राफ बनवाए थे। उन्होंने बच्चों के साथ थोड़ी मेहनत करने का मन बनाया। वे बोले, "डमरू ने जो कहा है उसमें उसने एक तो समय की बात की है, और दूसरी, दूरी की। अब हमें सोचना है कि समय को किस राशि में लिखें। दूसरा, दूरी से क्या मतलब है?"

चन्दर को लग रहा था कि हम तो दिन में एक बार ही पौधे को माप रहे हैं तो दिन को लिखेंगे ग्राफ पर। और दूसरी तरफ पौधे की लम्बाई को लिखेंगे। चन्दर ने आव देखा न ताव और जो सोचा वह कह दिया।

"सही! वास्तव में यही दो राशियों को ग्राफ पेपर पर दर्शाना था। ग्राफ में एक तो दिन होगा और दूसरा होगा ऊँचाई। तो दिन को हम कौन-से अक्ष पर लेंगे और ऊँचाई को...?"

नारंगी उछलकर बोल पड़ी, "दिन को नीचे और ऊँचाई को ऊपर।"

मास्साब सोच रहे थे कि आगे एक और मामले में बच्चों को मदद करनी पड़ेगी। और वह होगा – पैमाना चुनना। अगर बीस-पच्चीस दिनों को वे ग्राफ पेपर पर दिखाएँगे, तो उन्हें ज़रूर दिक्कत होगी। वैसे यह काम तो बाद में होगा। इसलिए अभी से बताने का कोई फायदा नहीं। यह सोचकर उन्होंने कुछ कहना वाजिब नहीं समझा।

लम्बी अवधि के प्रयोग

मास्साब को चिन्ता सता रही थी कि लम्बी अवधि का यह प्रयोग क्या सचमुच सफल हो पाएगा। अब तक के अनुभव बताते हैं कि कई बार बच्चे अवलोकन लेना भूल जाते हैं। कई बार पानी समय पर न देने की वजह से पौधे सूख जाते हैं। मास्साब के अन्दर से आवाज़ आई कि कई बार शिक्षक भी भूल जाते हैं।

होविशिका के स्रोत दल के सदस्य हमेशा लम्बी अवधि के प्रयोगों में जीवन्तता झोंकने की पूरी कोशिश करते। मासिक बैठकों, शिक्षक प्रशिक्षणों में नित-नए तरीके ईजाद किए जाते। जहाँ-जहाँ भी, जब-जब भी स्कूलों में लम्बी अवधि के प्रयोग होते, तो वे न केवल हौंसला बढ़ाते बल्कि उन प्रक्रियाओं में भी गहराई से जुड़ जाते। इतना ही नहीं, शिक्षकों के अनुरोध पर वे लम्बी अवधि के प्रयोगों के सफलतापूर्वक आयोजन में शामिल होते। मेंढक, मक्खी के जीवन-चक्र, पौधों में प्रजनन के प्रयोगों को सेट करने में वे शिक्षक और बच्चों के साथ होते। परिवर्धन को समझने के लिए निषेचित और सेहे हुए विभिन्न अवस्थाओं के अण्डे भी उपलब्ध कराने की कोशिश की जाती। मगर

हर स्कूल में जाना दूर की कौड़ी थी स्रोत दल के लिए।

बहरहाल, मास्साब ने सोचा कि इस बार बच्चों से वे पूछते रहेंगे कि वे क्या कर रहे हैं। अगर कहीं दिक्कत आएगी तो वे उसे हल करने की कोशिश करेंगे। वे आत्मावलोकन कर रहे थे कि कई बार लक्ष्य पता न हो तो भी कार्य सफल नहीं होता। सो, उन्होंने सोचा कि बच्चों को यह बात बता देनी चाहिए कि जब वे पौधों की वृद्धि की रोज़ाना माप के आँकड़े एकत्रित कर लेंगे तो उनका ग्राफ बनाया जाएगा।

प्रयोग का रोमांच

मास्साब ने चुप्पी तोड़ी। "हाँ, तो जो आँकड़े आएँगे, उनका ग्राफ बनाएँगे। ग्राफ बनाकर हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि जब बीज से पौधा बनता है, तो उसकी बढ़त एक-जैसी होती है या फर्क होती है।"

भागचन्द्र ने पूछ ही लिया, "आप ही बता दो कि बढ़त एक-जैसी होती है या फरक।"

मास्साब ने चतुराई-से कहा, "अगर यह बता दिया तो प्रयोग की तो जान ही निकल जाएगी। तुम प्रयोग करोगे ही नहीं..."

"फिर भी बता तो दो..." चन्दर हँसते हुए कहे जा रह था।

मास्साब के मूड से बच्चों को एहसास हो रहा था कि वे बताने वाले नहीं हैं। मास्साब ने बच्चों से कहा, "तो चलो, अब आगे का काम तुम्हारे ज़िम्मे! कल से हम कुछ और काम करेंगे। एक-दो बातें ध्यान रखना। एक तो, रोज़ाना अपने-अपने हिसाब से पानी देते रहना। दूसरा, पौधों की ऊँचाई ज़रूर मापकर कॉपी में लिखना।"

बाल विज्ञान में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया था कि बच्चों को प्रयोग के निष्कर्ष नहीं बताए जाएँगे। असल खोजबीन पद्धति तो यही है जिसमें बच्चे स्वयं ज्ञान का अर्जन करें। प्रयोग के निष्कर्ष बता देने के बाद प्रयोग करने का रोमांच ही समाप्त हो जाता है। शिक्षकों के साथ भी शिक्षक प्रशिक्षण में इसका ध्यान रखा जाता है। शिक्षकों को इस तरह से तैयार किया जाता कि वे बच्चों को विज्ञान की उस प्रक्रिया से गुज़रने के भरपूर अवसर दें जो विज्ञान शिक्षण से अपेक्षित हैं।

कालू राम शर्मा (1961-2021): अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, खरगोन में कार्यरत थे। स्कूली शिक्षा पर निरन्तर लेखन किया। फोटोग्राफी में दिलचस्पी। *एकलव्य* के शुरुआती दौर में धार एवं उज्जैन के केन्द्रों को स्थापित करने एवं मालवा में विज्ञान शिक्षण को फैलाने में अहम भूमिका निभाई।

सभी चित्र *बाल वैज्ञानिक* पुस्तक से लिए गए हैं।

यूरेका! यूरेका!

हरिशंकर परसाई

हिन्दी साहित्य के महान रचनाकारों में शुमार हिन्दी कथाकार हरिशंकर परसाई को उनकी कहानियों के लिए तो जाना ही जाता है, परन्तु इन सबसे अलग भी उन्होंने लेखन की कई अन्य महत्वपूर्ण विधाओं में अपना हाथ खूब आज़माया है। वे व्यंग विधा के बेताज बादशाह थे। अपने लेखन के माध्यम से उन्होंने विशेष रूप से भारतीय मध्यम वर्गीय समाज की विडम्बनाओं को बहुत सजीवता से उजागर किया। अपनी किताब *वैज्ञानिक कहानियाँ* में उन्होंने विज्ञान और मानव जाति के आपसी सम्बन्ध पर आधारित विषयों को आसान और रोचक तरीकों से समझने-समझाने के लिए अपनी कला और कल्पना को लज़्ज़तदार ढंग से परोसा है और उसी को *संदर्भ* में एक शृंखला के रूप में आपके साथ साझा किया जा रहा है।

सम्राट के चेहरे पर परेशानी थी। उसके जीवन में यह पहला अवसर था, जब उसने अपने किसी कर्मचारी पर अविश्वास किया था। सम्राट हिएरो को यह दुविधा थी कि वह अपने मन की बात प्रकट करे, या न करे। लेकिन फिर दुविधा असह्य हो उठी।

हिएरो तिलमिला उठा। उसके दरबार में प्रसिद्ध विद्वान, मूर्धन्य वैज्ञानिक और कुशल शिल्पी, सभी समान रूप से आदर पाते थे। दरबार का ही एक जौहरी सम्राट का मुकुट बनाकर लाया था, सोने का जगमगाता मुकुट! लेकिन यह क्या? सम्राट के अन्त:करण में जैसे लोहे की कील पैठ गई। उसे जौहरी की ईमानदारी पर सन्देह हुआ। लगा, जैसे जौहरी ने कुछ स्वर्ण चुराकर उसकी जगह चाँदी मिला दी है।

उसने एक वयस्क वैज्ञानिक की तन्द्रा भंग कर दी। वैज्ञानिक शान्त बैठा था अब तक। राजा ने कहा, "आर्कमिडीज़, मैंने तुम्हारी प्रतिभा का सदैव लोहा माना है। आज मैं एक बड़ी उलझन में हूँ। चाहता हूँ, तुम मेरी सहायता करो।"

"बोलिए, सम्राट, क्या चाहते हैं आप?"

पहले तो हिएरो कुछ कहते-कहते रुक गया, मानो फिर किसी दुविधा में

पड़ गया हो। फिर एक क्षण बाद बोला, "तुमने मेरा सोने का मुकुट तो देखा ही होगा। जो अभी बनकर आया है, वही मुकुट। पता नहीं क्यों, मुझे लगता है वह शुद्ध सोने का नहीं है। तुम सही बात का पता लगा सकते हो?" सुनकर वैज्ञानिक स्तब्ध रह गया - खेद से नहीं, वरन् आश्चर्य से।

उसे कुछ उत्तर न देते देख हिएरो ने फिर कहा, "यों असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं, आर्कमिडीज़। मैं किसी पर चोरी का इल्ज़ाम नहीं लगा रहा हूँ। बस, उत्सुकता समझ लो।"

खिन्न हृदय से आर्कमिडीज़ फीकी हँसी हँसा। उसकी आँखों के आगे

मानो वह मुकुट आ गया हो। फिर उसने कहा, "दीजिए मुकुट, मैं भरसक प्रयत्न करूँगा।"

वैज्ञानिक विचारों में डूब गया।

सम्राट प्रसन्न हो गए कि उन्हें एक ऐसा व्यक्ति मिल गया है, जो उनकी आत्मा में उठी विरोधी आवाज़ का उचित समाधान खोजेगा। आर्कमिडीज़ के व्यक्तित्व में इतना सामर्थ्य था कि एक सुनिश्चित योजना के सहारे असलियत जान सके।

आर्कमिडीज़ की दोनों आँखें, सम्पूर्ण चेतना केन्द्रित थीं, सम्राट द्वारा दिए गए सुन्दर स्वर्ण-मुकुट पर। कई दिन बीत गए। कोई हल सूझ नहीं रहा था। वैज्ञानिक के चेहरे का एक-एक स्नायु पीड़ा से तिलमिलाने लगा। "किस दिन, कैसे सत्य प्रकट होगा, कौन जाने," वह सोचता।

समय सरकता जा रहा था।

एक दिन आर्कमिडीज़ अपने नगर के मध्य में स्थित स्नानगृह में नहाने गया, रोज़ की तरह। वह जाते समय प्रत्येक वस्तु का अवलोकन कर रहा था और सोच रहा था कि शायद यह अवलोकन अन्तिम हो। फिर शायद वह हार मान ले और मुकुट का रहस्य जाने बिना उसे सम्राट को लौटा दे। यह सोचकर वह टब में भरे पानी को बार-बार देख रहा था। उस पानी में ऐसा अद्‌भुत आकर्षण था कि दृष्टि जहाँ भी जाती, अटक जाती थी।

कुशल वैज्ञानिक और कवियों के समान भावुक हृदय वाला आर्कमिडीज़ कुछ क्षण धुत-सा खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे उसने एक-एक कर कपड़े उतारे। एक क्षण आर्कमिडीज़ ने चारों ओर देखा और फिर मुँह फेर लिया। व्याकुल होकर उसने टब में पैर डाल दिए। टब पानी से लबालब भरा था। जल्दी-से वह पानी में बैठकर नहाने का उपक्रम करने लगा। पर यह क्या? आश्चर्य से उसने उधर गर्दन घुमाई, जिस ओर पानी गिर गया था। वह उस ओर झुक गया। उसने सोचा, देखूँ तो क्या वास्तव में मेरे टब में घुसते ही थोड़ा पानी गिर गया है। और जब झुककर उसने देखा कि पानी टब से बाहर आ गया था और पतली धार में धरती पर बह रहा था, तो वह ठगा-सा रह गया।

यह कैसा संयोग! उसकी कल्पना-दृष्टि में अनगिनत चित्र बने और बिगड़े।

स्नानगृह से उसी हालत में निकलकर आर्कमिडीज़ सिरेकस की सड़कों पर पागल-सा, चिल्लाता हुआ भागता गया, "यूरेका, यूरेका, यूरेका...।" (खोज लिया! खोज लिया!)

वह स्वतः हैरान था कि उसने उस नितान्त साधारण-सी रोज़मर्रा घटना से इतना महत्वपूर्ण रहस्य कैसे जान लिया! जो भी हो, अन्त में वह अपनी समस्या का हल पा गया था।

पर यह वैज्ञानिक अपनी इस

उपलब्धि की परीक्षा करना चाहता था। घर पर आवश्यक साधारण सामग्री के सहारे उसने कई प्रयोग किए और दुनिया के सामने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। खुद आर्कमिडीज़ तब न जान पाया होगा कि उस सिद्धान्त के बल पर ही वह विज्ञान की दुनिया में सदा के लिए अमर हो जाएगा। अधिकांश विद्यार्थी आर्कमिडीज़ को केवल इसी सिद्धान्त के कारण जानते हैं। एक ऐसा सिद्धान्त, न तो जिसमें बड़े और पेचीदा समीकरण हैं और न कठिन यंत्रों की आवश्यकता।

उस दिन आर्कमिडीज़ भागता-भागता घर लौटा और जुट गया अपने प्रयोग में।

पूरा-का-पूरा सोने का मुकुट उसने पानी से भरे एक बर्तन में डुबा दिया। डरते-डरते लेकिन मन में अभूतपूर्व विश्वास लिए आर्कमिडीज़ ने मुकुट के वज़न के बराबर सोना लेकर उसे भी पानी से भरे बर्तन में डुबाया। उतनी ही चाँदी भी इसी प्रकार डुबाई।

और आर्कमिडीज़ को अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं हुआ। उसने देखा कि मुकुट द्वारा हटाए गए पानी की मात्रा शेष वस्तुओं द्वारा हटाए गए पानी की मात्रा से भिन्न है। यह सर्वथा नया अनुभव था। बार-बार उसने प्रयोग किया, पर प्रत्येक बार उसी परिणाम पर पहुँचा।

इसको उसने इस प्रकार व्यक्त किया - 'प्रत्येक पदार्थ एक सीमित मात्रा का द्रव हटाता है।' इतनी सीधी-सादी बात! पर कितनी उपयोगी और अर्थपूर्ण!

सिरेकस के सम्राट हिएरो ने पूछा, "आर्कमिडीज़, क्या तुमने पता लगा लिया?"

आर्कमिडीज़ ने एक अर्थ-पूर्ण दृष्टि सम्राट पर फेंकी। उसे लगा, वास्तव में सम्राट जानने को अत्यन्त उत्सुक हैं। उसने कहा, "मेरा मत है, आपका मुकुट मिलावटी सोने का बना है। उसमें नि:सन्देह चाँदी मिली है।"

इतनी दृढ़ता उसके स्वर में, इतना आत्मविश्वास उसकी आत्मा में, पहले कभी नहीं था।

बातों की प्रत्येक कड़ी सम्राट हिएरो पकड़ रहे थे। उन्हें आश्चर्य और हर्ष हो रहा था। हिएरो ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा, "मुझे कुछ नहीं कहना है। हाँ, तुम पर मुझे गर्व है, आर्कमिडीज़...।" सम्राट हिएरो अचानक रुक गया, मानो किसी गम्भीर विचार में डूब गया हो!

* * *

आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व सीमित साधनों के बावजूद आर्कमिडीज़ ने चालीस से अधिक आविष्कार किए। इनमें से कई आविष्कारों का उपयोग मानव जाति की सुविधा के लिए किया गया और बहुत-से आविष्कारों को सैनिक महत्व प्राप्त हुआ।

आर्कमिडीज़ उस समय का एक अत्यन्त लोकप्रिय इन्सान बन गया था। उसका पद साधारण जनता और विद्वानों, सबके बीच काफी ऊँचा था। उसका ज्ञान और खोजबीन के दायरे अत्यन्त विस्तृत थे। स्वयं आर्कमिडीज़ अत्यन्त संकोची स्वभाव का था और किसी भी प्रकार के विज्ञापन से सदा दूर भागता था।

उस समय भी नदियाँ शहरों के पाँव चूमती हुई बहती थीं, जो इनके किनारों पर आबाद थे। इन शहरों के अनेक भाग बंजर थे, पानी विहीन थे और वहाँ तक इन नदियों का पानी ले जाना असम्भव प्रतीत होता था। एक तरफ थिरक-थिरक कर बहने वाला पानी और दूसरी ओर बंजर धरा!

लोगों का विश्वास था कि आर्कमिडीज़ किसी भी प्रकार से ऐसा उपाय खोज निकालेगा, जिससे बंजर धरती तक पानी पहुँचाया जा सके। इतनी ऊँचाई तक पानी पहुँचाना कोई आसान काम नहीं था। इस समस्या को लेकर हर समय आर्कमिडीज़ गहरी चिन्ता में डूबा रहता। दुनिया के सामने एक नई चीज़ प्रस्तुत करने का प्रश्न था, जो समस्त विश्व में क्रान्ति मचा दे।

गर्मी की दोपहरें, ठण्ड की रातें, वह जलाशयों के समीप गुज़ारा करता; सोचता रहता। वह बहते हुए दरिया की लहरों को देखकर मुस्कराता रहता। उसके माथे पर शिकन तक नहीं थी। उसके आनन्द और मस्ती का भेद कोई नहीं जानता था। इसके बारे में लोगों की अनेक धारणाएँ थीं।

एक दिन उसने एक पोला बड़ा-सा

पेंच लिया और उस पेंच को लेकर एक तिरछी-ऊँची सतह के पास गया। इस पेंच को वह और लोगों की सहायता से घुमाने लगा। परिणाम पर स्वयं आर्कमिडीज़ को आश्चर्य हुआ।

"ऐसा क्यों?" आर्कमिडीज़ ने सबको संकेत करके कहना शुरू किया, "यह घटना तो मुझे एकदम पागल बना देगी।"

सब लोगों ने एक कण्ठ से आर्कमिडीज़ की बुद्धिमानी की प्रशंसा की और उसका यह प्रयोग दुनिया के कोने-कोने में प्रसिद्ध हो गया। नीचे धरातल से, केवल पोले पेंच की सहायता से सैकड़ों फुट ऊपर तक पानी पहुँचा देना! शिल्पकारों, मज़दूरों, किसानों और इंजीनियरों ने एक स्वर में उसकी इस खोज को सराहा।

आज भी हॉलैण्ड में पानी चढ़ाने के लिए इसी तरह के पेंच का उपयोग किया जाता है।

* * *

सिरेकस साम्राज्य सदैव जीवित रहने, अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए खड़ा किया गया था। उस साम्राज्य में बनी इमारतें शिल्प की दृष्टि से अद्वितीय थीं। रात्रि के मौन वातावरण में वहाँ और भी अच्छा लगता।

रोमन लोग सिरेकस को अपने अधिकार में लेना चाहत थे। वे अक्सर सिरेकस पर चढ़ाई करते रहते थे। रोमन साम्राज्य के पास बड़े-बड़े जहाज़ और कुशल नाविक थे।

एक बार मारसेल्स के नेतृत्व में रोमन सेना ने सिरेकस पर धावा बोल दिया।

सम्राट हिएरो ने ऐसे विकट संकट के समय बड़ी गम्भीरता से आकाश की ओर आँखें उठाईं और थोड़ी देर तक टिमटिमाते सितारों को देखा। फिर वहाँ से नज़र उठाकर उसने अपने सामने बैठे लोगों के समुन्दर पर टिका दीं। एक बार फिर उसने स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया।

अचानक ही उसकी दृष्टि आर्कमिडीज़ पर पड़ी। बिना किसी झिझक के हिएरो ने आर्कमिडीज़ से कहा, "वैज्ञानिक, तुमने मनुष्य मात्र की तो बहुत सेवा की है, विज्ञान के क्षेत्र में तुमने बहुत कुछ किया है। इस समय हमारी सीमा खतरे में है। दुश्मन बढ़ा चला आ रहा है। कुछ करो वैज्ञानिक कि जिससे मारसेल्स और उसके साथी सैनिक हमारा कुछ न बिगाड़ सकें। बोलो, क्या कहते हो?"

यह सुनकर आर्कमिडीज़ मुस्कराया। उसने धीरे-से कहा, "सम्राट, नदी और समुद्र का पानी सूख जाएगा। खेत सूख जाएँगे। पेड़, घास और हरियाली भस्म हो जाएगी। मनुष्य काल के गाल में चले जाएँगे। यह रोमन जाति खत्म हो जाएगी। मेरे पास जलते दर्पणों का भण्डार है। आप किसी प्रकार की चिन्ता न कीजिए।"

मारसेल्स अपनी वीरता के नशे में

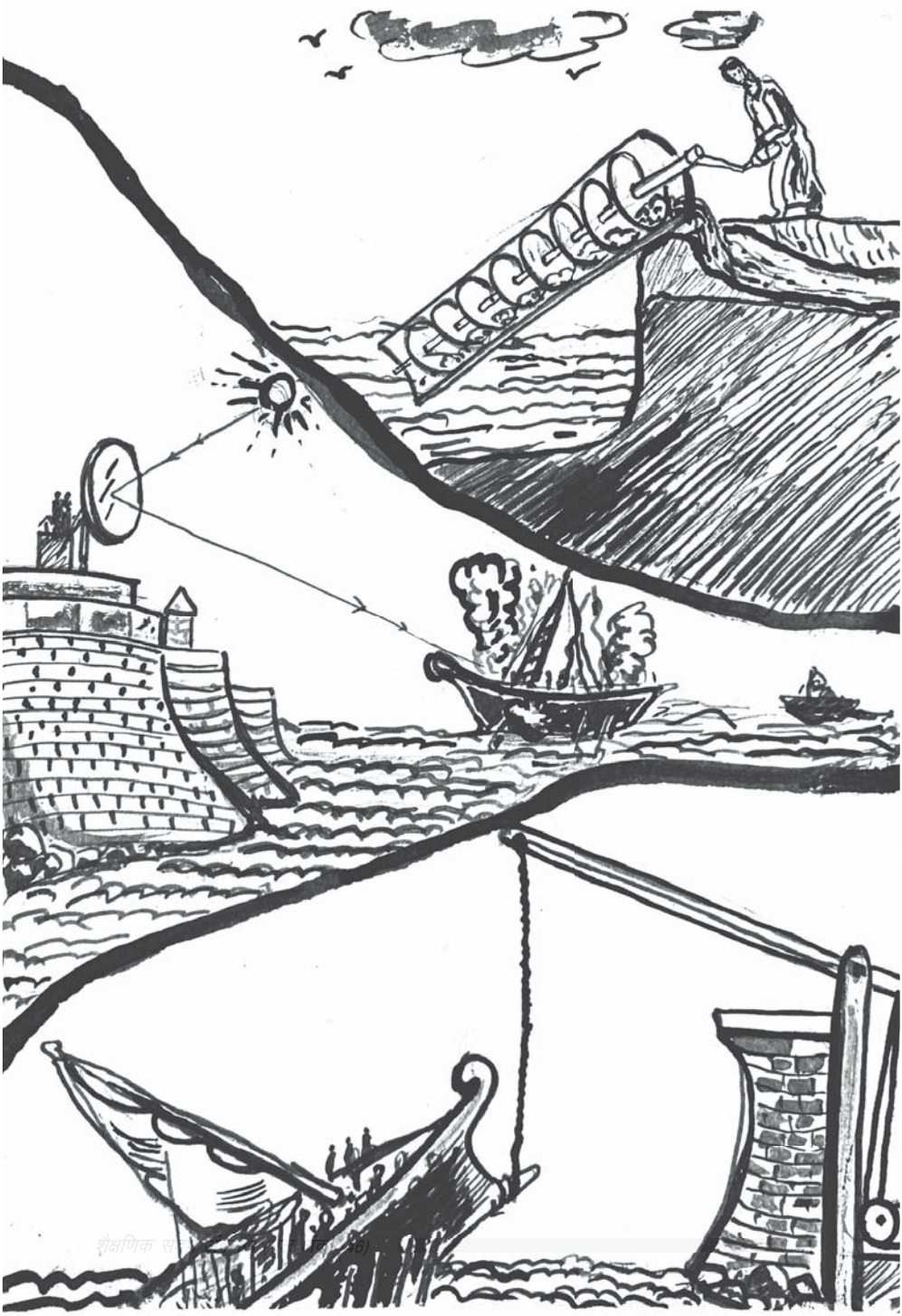

चूर सिरेकस को जीतने बढ़ा आ रहा था। सिरेकस की सेना अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ तो नहीं थी लेकिन उसे आर्कमिडीज़ पर विश्वास था। उसकी असाधारण योजनाओं पर भरोसा था।

नियत समय पर आर्कमिडीज़ मुट्ठी भर सहायकों के साथ समुद्र के एक किनारे आ पहुँचा। सहायकों के पास बड़े-बड़े, चमकदार नतोदर दर्पण थे। मिलकर, उन्होंने सूरज की तेज़ किरणों को उन नतोदर दर्पणों के द्वारा दुश्मन की हमलावर सेना पर केन्द्रित करना प्रारम्भ किया। देखते-देखते मारसेल्स की सेना में भाग-दौड़ मच गई। जिसको जहाँ जगह मिली वहाँ भागा। सेना पल भर में तितर-बितर हो गई। कहते हैं, सैकड़ों सैनिकों ने अपनी दृष्टि खो दी। मारसेल्स खुद न समझ पाया कि उन जलती विनाशक किरणों से कैसे रक्षा की जाए! सामने अस्त्र-शस्त्र हों तो उनका सामना कैसे करना, उसकी कोशिश भी की जा सकती है!

आर्कमिडीज़ के नाम के साथ कुछ वैज्ञानिक उपरोक्त घटना जोड़ना अनुचित मानते थे। उन्हें ऐसे अद्‌भुत और अचूक प्रयोग पर विश्वास ही नहीं होता। पर सर आइज़ैक न्यूटन ने ऐसे लोगों को सलाह दी कि वे आर्कमिडीज़ की क्षमता और दूरदर्शिता पर शंका न करें। उनकी मानें तो आर्कमिडीज़ के लिए ऐसा कर पाना सभी दृष्टियों से सम्भव है।

इतनी विपत्ति और हानि के बावजूद रोमन राजा और सेनापति किसी भी तरीके से सिरेकस को नीचा दिखाना चाहते थे, उसे अपने अधीन करने का स्वप्न देखते थे।

इसलिए दूसरी बार भी रोमन सेना ने मारसेल्स के ही नेतृत्व में सिरेकस पर चढ़ाई कर दी। इस धावे में उनके पास बड़े, सुसज्जित जहाज़ थे। इस बार तो हिएरो इतना घबरा गया कि किसी भी प्रकार की रक्षा का विचार भी उसने त्याग दिया।

फिर भी आर्कमिडीज़ की सलाह ली गई। सदा की भाँति इस वैज्ञानिक ने इस अत्यन्त गम्भीर समस्या से मुकाबला करने की पुनः ठान ली।

"पर, कैसे?"

"बस, आप देखते रहिए।"

"मुझे तो विश्वास ही नहीं होता।"

"मेरा बस चले तो, मैं तो इस पृथ्वी को ही उठाकर लटका लूँ। हाँ, मुझे और कहीं पैर टिकाने भर को जगह मिल जाए।"

"भगवान तुम्हें सफल करे।"

इस चुनौती का भी सामना किया आर्कमिडीज़ ने। घिर्री और टेक की सहायता से उसने जहाज़ों को गेंद की तरह उठाकर दूर समुद्र में फेंक दिया। कई जहाज़ों को तो इन घिर्रियों की सहायता से हवा में लटका दिया जाता और किसी पास की पहाड़ी पर बार-बार टकराकर उनकी दुर्दशा कर दी जाती। इस सबसे रोमन सेना ने

बहुत हानि उठाई और वे सभी निश्चित रूप से डर गए। बहुत दिनों तक रोमन सेना इस नज़ारे से बहुत ही भयभीत रही। अगर रोमन सिपाही कहीं भी रस्सी का टुकड़ा लटकता देखते तो सर पर पैर रखकर भाग खड़े होते। कहते, "आर्कमिडीज़ आ गया, आर्कमिडीज़ आ गया।"

सिरेकस को इस प्रकार दुश्मनों से बचाता रहा, आर्कमिडीज़। किसी की भी एक न चलती उस महान वैज्ञनिक के आगे। रेखा-गणित के उस 'राक्षस' से सब भयभीत रहते।

एक रात सारी प्रकृति चाँदनी से नहा रही थी। चन्द्रमा की किरणों ने वातावरण में एक अजीब-सी मिठास भर दी थी। ऐसी मोहक रात्रि में सिरेकस निवासी एक स्थान पर एकत्रित थे। वे सुध-बुध खोकर, शराब के नशे में चूर, चाँद की देवी आटमिस की पूजा में व्यस्त थे। शराब के दौर चल रहे थे। नृत्य-गान का भी अन्त न था। उन नशीली तरंगों में सभी नागरिक और सैनिक बहे जा रहे थे।

पर इस सब से रोमन लोगों को कुछ मतलब नहीं था। चोट खाए शेर की तरह वे किसी उचित मौके की तलाश में तो थे ही। इस मुफीद मौके का इन्होंने पूरा लाभ उठाया।

अचानक सैकड़ों रोमन सैनिक सिरेकस का परकोटा लाँघकर शहर में घुस गए और अन्य सैनिकों को आक्रमण के लिए अन्दर आने देने के लिए उन्होंने मुख्य द्वार खोल दिया।

हज़ारों निहत्थे सिरेकस निवासियों का खून बहा दिया गया। सिरेकस के बाशिन्दों के लिए बहुत महँगी थी रोमनों की वह विजय। रोम वासी खुशी से फूले नहीं समा रहे थे। उनके उत्साह की सीमा न थी।

चाहते तो थे वे कत्ले आम करना, लूटपाट करना, आगजनी करना और सिरेकस को पैरों तले रौन्दना; पर मारसेल्स ने सैनिकों को हुक्म दिया कि परिस्थिति से किसी प्रकार का अनुचित लाभ न उठाया जाए। विशेष

रूप से आर्कमिडीज़ का ध्यान रखा जाए। कोई भी उस पर हाथ न उठाए। उसे हर प्रकार की सुविधा और इज़्ज़त दी जाए। उस वैज्ञानिक का सम्मान किया जाए। उसे रोमन साम्राज्य का विशेष अतिथि माना जाए।

***

और इस पागलपन, विनाश-लीला, कुकृत्य और अमानवीय कार्य से बिलकुल अनभिज्ञ आर्कमिडीज़ शान्त, सन्तुलित, एकाग्र और खोया-खोया-सा बाज़ार के पास बैठा था, धरती पर। उसकी अँगुलियाँ धूल पर नाच रही थीं और बार-बार वह एक वृत्त को पूरा करके कुछ हिसाब लगा रहा था, विज्ञान के किसी गूढ़ रहस्य को जानने का प्रयत्न कर रहा था। किसी और बात का उसे आभास तक न था।

एकाएक आर्कमिडीज़ चौंक पड़ा, पदचापों की आवाज़ से। देखा तो सामने एक रोमन सैनिक चला आ रहा था। लड़खड़ाते पैरों, बेहोश-सा, विक्षिप्त-सा। हाथ में थी उसके नंगी, चमचमाती तलवार।

"मुझे तो मारोगे तुम, सही। लेकिन ठहरो, मैं अपनी गणनाएँ तो पूरी कर लूँ। फिर मार डालना मुझे, सैनिक।" आर्कमिडीज़ बुदबुदाया।

पर वह सैनिक था। कल्पना से उसका कोई वास्ता नहीं था। ऐसी खोखली बातों में उसे कोई तथ्य नज़र नहीं आया। और उसने एक भी क्षण खोए बिना आर्कमिडीज़ के पेट में तलवार भोंक दी।

"मेरा शरीर तो ले लिया तुमने पर देखो, मैं अपना मस्तिष्क अपने साथ ले जाऊँगा।" मरते-मरते कह गया था वह महान वैज्ञानिक।

हरिशंकर परसाई (1924-1995): हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध व्यंगकार थे। व्यंग रचनाओं के अलावा उपन्यास और लेख भी लिखे हैं। उनका जन्म जमानी, होशंगाबाद, मध्य प्रदेश में हुआ था। वे हिन्दी के पहले रचनाकार हैं जिन्होंने व्यंग्य को विधा का दर्जा दिलाया और उसे हल्के-फुल्के मनोरंजन की परम्परागत परिधि से उबारकर समाज के व्यापक प्रश्नों से जोड़ा। साहित्य अकादमी पुरस्कार, शिक्षा सम्मान (मध्य प्रदेश शासन), शरद जोशी सम्मान आदि से सम्मानित।

सभी चित्र: हरमन: चित्रकार हैं। दिल्ली कॉलेज ऑफ आर्ट, नई दिल्ली से फाइन आर्ट्स (चित्रकारी) में स्नातक और अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली से विज़ुअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर। भटिंडा, पंजाब में रहती हैं।

यह विज्ञान गल्प मित्र-बन्धु-कार्यालय, जबलपुर द्वारा सन् 1964 में प्रकाशित हरिशंकर परसाई की किताब *वैज्ञानिक कहानियाँ* से लिया गया है। यह किताब तैलंगाना क्षेत्र की ग्यारहवीं कक्षा के लिए नॉनडिटेल्ड प्रथम भाषा की पाठ्यपुस्तक के रूप में आन्ध्र प्रदेश शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृति के तहत प्रकाशित की गई थी।

पढ़ने की न उम्र होती है न जगह

मंजू कुमारी

रोज़ की तरह आज भी हम मोहल्ला केन्द्र गए। यह केन्द्र *एकलव्य* द्वारा कोरोना काल में खोला गया था ताकि बच्चों की पढ़ाई जारी रह सके। हम शाम को 4:30 बजे वहाँ पहुँच गए थे। उस दिन सभी बच्चे स्कूल की छुट्टी होने के बाद गाँव में साक्षरता दिवस की रैली निकाल रहे थे, जिसकी वजह से वे केन्द्र पर देरी से आए।

हम पहुँचे तो वहाँ दो-तीन औरतें घर में बैठी हुई थीं और बातें कर रही थीं। हमें देखते हुए उन्होंने कहा, "अरे! मैडम जी आई हैं, कुर्सी लाओ।"

मैंने हँसकर बोला, "नहीं...नहीं... उसकी ज़रूरत नहीं है। हम तो कुर्सी पर ही बैठे रहते हैं, कभी-कभी मौका मिलता है नीचे बैठने का, उसको भी आप लोग छीन ले रहे हैं।"

सभी हँस दिए और उनमें से एक ने कहा, "अरे! अच्छा नहीं लगता न आप ऐसे नीचे बैठोगी तो।"

मैंने परिस्थिति को भाँपने के लिए अन्दर झाँका तो देखा संचालक साथी के पापा बिस्तर पर लेटे हुए थे।

मैंने सलोनी को बुलाया और पूछा, "क्या ये अंकल जी को देखने आई हैं?"

"हाँ दीदी, आपको बताया था न लड़ाई में पापा का सर फोड़ दिया था।"

जैसे ही उसने यह वाकया सुनाया, मेरा दिमाग एकदम सुन्न हो गया और मैं सोचने लगी - क्या आज भी गाँव में इतना आक्रोश है? गाँवों के बारे में हमारे दिमाग में जो छवि होती है, उसमें तो गाँव के लोग आपस में मिलजुलकर रहते हैं और आपसी भाईचारा देखने को मिलता है।

मैं ऐसा इसलिए भी कह रही हूँ क्योंकि गाँव में सभी के बीच एक रिश्ता बना हुआ होता है जिससे आपसी संवेदनशीलता की सम्भावना रहती है, जो शहर में शायद ही कहीं देखने को मिले।

अब यह तो नज़रिया है, आप कुछ सोच सकते हैं और मैं कुछ और।

स्कूल के प्रति नज़रिया

मैं इसी सोच में थी कि एक महिला बोली, "अरे, अब जो सरपंच बने हैं न, वो सब ठीक कर देंगे। वे स्कूल गए और सबकुछ चेक किया। पुराना भवन है, एक ही कमरा है, और-तो-और बाथरूम भी नहीं है। उनसे पहले स्कूल देखने कभी कोई नहीं गया। वे अब सब बढ़िया कर देंगे।"

दूसरी बोली, "अगर स्कूल अच्छा

साफ-सुथरा हो तो बच्चे वहाँ भाग-भाग कर जाएँ और मन भी लगे। आधे से ज़्यादा समय तो वे घर में कभी बाथरूम करने आते हैं, तो कभी पानी लेने।"

ऐसे ही बातें करते हुए हमने पूछा, "आप लोग स्कूल कब जाते हैं?"

उनका झट-से जवाब आया, "जब मोड़ा-मोड़ी शिकायत लेकर आते हैं, हम तो तब ही जाते हैं।"

इससे पहले कि मैं कुछ बोलती, दूसरी महिला बोली, "कुछ दिन पहले ही हम स्कूल गए थे क्योंकि वहाँ खीर बनाई गई थी और बच्चे ने खाने से मना कर दिया। बच्चों से पूछकर बनाना चाहिए न कि उनको क्या खाना है। और नहीं खाना तो ज़बरदस्ती से क्यों खिलाना, मैडम?"

उनमें से फिर एक महिला बोली, "कैसा मिड-डे मील, भर पेट खाना भी नहीं मिलता। कभी दो पूरी तो कभी एक ही रोटी देते हैं।"

मैंने पूछा, "आप देखकर आई हैं? और मैडम से इस मामले में बात की क्या?"

"अरे मैडम, हमारे बच्चे बताते हैं हमें। और हम क्या बात करें मैडम से? बच्चे भी मना कर देते हैं कि मैडम से कुछ मत बोलना।"

तभी एक महिला बोली, "अब मेरी बेटी को ही देख लो। अगर उसके सामने ज़रा-सा भी कुछ बोला तो गुस्साएगी और रोने लगेगी।"

मैंने बोला, "अच्छा, इतना प्यार है बच्चों को मैडम से?"

"अजी, इन सभी की प्यारी मैडम हैं वो... पता नहीं क्या जादू किया हुआ है।"

तभी वहाँ बैठी एक लड़के की माँ बोलीं, "हमने स्कूल जाकर मैडम से बस इतना बोला कि इतना समय हो गया लेकिन हमारे बेटे को कुछ आ नहीं रहा है, क्या सिखा रहे हैं आप? रोज़ एक रैली होती रहती है। इस पर मैडम ने बस इतना बोला कि 'सरकार की तरफ से ऑर्डर आया है तो करवाया जाता है और मैं अकेली हूँ, क्या-क्या करूँ'। अगले दिन से मेरे बच्चे को पीछे बैठा दिया और बात करना बन्द कर दिया, वो अलग।"

"अब मैडम भी इन्सान ही हैं। आ गया गुस्सा और निकाल दिया बच्चे पर। अकेला अध्यापक भला, करे भी तो क्या? दोनों की उम्मीद एक-दूसरे से बच्चे को सिखाने की है, लेकिन पालकों को लगता है कि सारा ज़िम्मा अध्यापकों का है और अध्यापकों को लगता है कि बच्चों को सिखाने की ज़िम्मेदारी पालकों की भी है। खैर, किसकी कितनी ज़िम्मेदारी है वो सभी जानते हैं।"

कुछ उलाहने

एक लड़का बैग लेकर आया और बोला, "नमस्ते दीदी।"

नमस्ते करते हुए मैंने पूछा, "आज क्या करवाया मैडम जी ने?"

"शुद्ध लेख करवाया दो बार और रैली निकाली।"

"ज़रा दिखाना," मैंने मुस्कराते हुए कहा।

बच्चे ने सहमते हुए नोटबुक दिखाई। उसमें तो लाल पेन से गोले ही गोले लगे हुए थे।

"ये गोले लगाने के बाद मैडम जी ने सही करवाया क्या?"

"दीदी, ये तो विनीता ने करवाया है और उसी ने चेक किया है।"

सभी महिलाएँ उसकी तरफ देखते हुए बोलीं, "मैडम जी ने चेक क्यों नहीं किया?"

कुछ बच्चे बोले, "अरे! वो दो-तीन होशियार बच्चे हैं न, वे ही हमें पढ़ाते हैं।"

ये सब बताने का मेरा मकसद यह नहीं है कि एक बच्चा दूसरे बच्चे को पढ़ा नहीं सकता, बिलकुल पढ़ा सकता है। बल्कि बच्चे एक-दूसरे से जल्दी सीखते हैं और पियर लर्निंग भी बहुत ज़रूरी है। लेकिन वह तरीका कौन-सा हो – हमें यह समझने की ज़रूरत है कि आप और मैं पियर लर्निंग किसे मान रहे हैं। अब जो चार बच्चे 'सभी बच्चों' को पढ़ा रहे हैं, उसे क्या कहेंगे?

ऐसे ही कुछ शब्द शिक्षा नीति में प्रयोग कर दिए जाते हैं, जैसे स्केफोल्डिंग, पियर लर्निंग इत्यादि। अक्सर हम बिना अभिप्राय समझे इनका प्रयोग करने लगते हैं।

सभी को स्कूल को लेकर काफी शिकायतें थीं। स्कूल में अध्यापक की कमी को लेकर भी हल्की-सी बात उठी लेकिन ज़्यादा ज़ोर तो आधारभूत संरचना एवं सुविधाओं पर था।

इसी बीच संचालक साथी बोलीं, "देखो दीदी, एक अध्यापक हैं, उनकी ड्यूटी तहसील में लगी हुई है इसलिए वे कभी आते ही नहीं हैं। मैडम ने अर्ज़ी भी दी थी लेकिन कुछ नहीं हुआ। सरपंच जी का कहना है कि वे उसी अध्यापक को स्कूल में लाएँगे।"

मैंने सभी से एक सवाल किया, "क्या आप कभी स्कूल में या सरपंच जी के पास अध्यापक की कमी के बारे में शिकायत लेकर या बातचीत करने गए हैं?"

"अरे, हम क्या पढ़े-लिखे हैं मैडम जी? हमें क्या पता कि स्कूल में और भी टीचर की ज़रूरत है।"

"अब तो आपको सब पता है न। तो अब आप वहाँ जाकर बात कर सकते हैं।"

उसके बाद हमने उनसे शाला प्रबन्धन समिति (SMC) के बारे में चर्चा की। यह क्या होती है, कैसे बनती है, कितने सदस्य होते हैं, इसका क्या काम है, आदि।

अम्मा की पढ़ाई

अब तक सभी बच्चे आ चुके थे और पालक भी साथ ही थे। मैंने सभी से कहा, "चलो! आज सभी

पढ़ते हैं और देखते हैं कि बच्चे कैसे सीखते हैं।"

एक बहुत ही बूढ़ी अम्मा थीं, जो बिलकुल बच्चों की तरह खुश और उत्साहित थीं। वे झट-से उठीं और बोलीं, "चलो! वैसे तो कभी मौका नहीं मिला स्कूल जाने का, लेकिन आज यह भी कर लेते हैं।" मैंने मज़ाक में कहा, "पढ़ाई में बहुत बोरियत होती है... रहने दीजिए। आइए, मेरे पास बैठ जाइए। हम सभी बातें करते हैं।"

अम्मा झट-से मेरे पास आईं, मेरा हाथ पकड़ा और बोलीं, "मैडम जी, चलिए न, हमें पढ़ना है।" यह सुनकर मैं उन सभी के साथ ऊपर गई जहाँ सभी बच्चे बैठे हुए थे।

मैंने *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित *शलजम* नामक बड़ी किताब उठाई और कहा, "चलो, आज इसे पढ़ते हैं।"

पढ़ने का पूरा उत्साह इस वाक्य ने खत्म कर दिया, "हमें थोड़े ही आता है। पढ़े-लिखे होते तो क्या यहाँ रहते।" सभी हँसते हुए बोले, "और कहाँ रहतीं अम्मा?"

मैंने कहा, "हम यहाँ पढ़ेंगे नहीं बल्कि चित्रों को देखकर कहानी का अनुमान लगाएँगे।" उनके साथ दो छोटे बच्चे भी थे। मैंने उनके साथ शुरुआत की। धीरे-धीरे वे सभी चित्रों को देखते हुए और आपस में बातचीत करते हुए एक-दूसरे को कहानी सुनाने लगीं।

किताब के एक चित्र में बिल्ली को पेड़ पर दिखाया गया था। एक महिला ने उसे गिलहरी बोला और दूसरी ने बिल्ली। दोनों एक-दूसरे को तर्क देते हुए अपनी बात मनवाने की कोशिश करने लगीं। अन्त में मुझसे बोलीं, "मोड़ी बताओ, यह क्या है?" मैंने कहा, "आपके लिए बिल्ली और उनके लिए गिलहरी। दोनों ही ठीक हैं।" लेकिन अम्मा बोलीं, "नहीं, पढ़कर बताओ कि क्या है।"

मैंने कहा, "बिल्ली।"

उनकी खुशी सातवें आसमान पर थी जैसे उन्होंने कोई जंग जीत ली हो।

तोतली कहानी

मैंने बच्चों से कहा, "चलो, अब आप में से कोई हम सभी को एक

कहानी सुनाएगा।" मैंने कुछ बिन्दु तय कर दिए जिनको ध्यान में रखकर कहानी सुनानी थी, जैसे -

- पहले आपको चित्र को दिखाकर बताना है कि आपको क्या दिख रहा है और इसमें क्या हो रहा है।
- एक पेज पढ़ने के बाद अनुमान लगाना होगा कि आगे क्या होगा।
- जो शब्द समझ न आएँ या कठिन लगें, उन पर बातचीत करना होगी। और मैं तो मदद के लिए हूँ ही।

बच्चों ने एक-दूसरे की तरफ देखा और दो-तीन बच्चों ने पढ़ने के लिए हाथ उठाया। मैंने कनक की तरफ इशारा किया और उसने *भालू ने खेली फ़ुटबॉल* नाम की किताब को चुना।

कनक ने सभी बातों को ध्यान में रखते हुए बहुत ही सुन्दर तरीके से कहानी को पढ़ा। सभी बच्चे और पालक बड़े मज़े से कहानी सुन रहे थे और प्रतिक्रिया दे रहे थे। सबसे अच्छी बात मुझे यह लगी कि कनक थोड़ा तुतलाकर बोलती है लेकिन किसी भी बच्चे ने उसका मज़ाक नहीं उड़ाया। यह सब देखकर मुझे अचम्भा हुआ, साथ ही खुश भी हुई कि बच्चों ने यह सब शायद हम बड़ों से ही सीखा है।

यह किताब रंग-बिरंगी नहीं है, पूरी काली और सफेद है। मैंने बच्चों से पूछा, "ज़्यादातर किताबें रंग-बिरंगी होती हैं लेकिन यह तो नहीं है, ऐसा क्यों?

बच्चों ने किताब को देखा और झट-से बोले, "अरे दीदी! इसमें कोहरा दिखाया गया है न इसीलिए यह किताब ऐसी है।" सभी हँस दिए।

कौन है आज़ाद?

इस कहानी को बड़े ही मज़ेदार तरीके से पढ़ा गया। कहानी के दौरान 'आज़ाद' शब्द आया तो मैंने पूछा, "आज़ाद होना क्या होता है?"

सभी बच्चे एक साथ बोलने लगे, "अपनी मर्ज़ी से काम करना।" कुछ बोले, "जब भूख लग रही हो तब खुद की मर्ज़ी से खाना खा लें।" "बिना किसी की अनुमति से कुछ भी कर लिया, वही आज़ादी है।"

"आप सभी आज़ाद हैं?" मेरा अगला सवाल आया।

इस पर झट-से जवाब आया, "हाँ दीदी, हम तो सब काम खुद की मर्ज़ी से करते हैं - भोजन करना हो या कुछ लेना हो।" मेरे कुछ बोलने से पहले ही दूसरे बच्चे ने बोल दिया, "अच्छा, खुद की मर्ज़ी से कपड़े खरीद लेती हो क्या?"

पहला बच्चा बोला, "तुम बताओ अपना, तुम हो क्या आज़ाद?"

"नहीं, बिलकुल भी नहीं।"

सभी ने साथ में बोला, "अरे! कैसे नहीं हो तुम आज़ाद?"

उसने जवाब देने शुरू किए, जैसे आज ही उसको बोलने का मौका मिला हो, "अपनी मर्ज़ी से छुट्टी नहीं कर सकते, न ही साइकिल चला सकते हैं, और-तो-और कहीं जा भी नहीं सकते, दीदी।"

उसके साथ दूसरे ने भी बोला, "समय से घर पर आना होता है और हम अपनी मर्ज़ी से कुछ भी नहीं कर सकते।"

एक-दूसरे से सवाल-जवाब करना वो भी तर्कों के साथ, यह बड़ा ही लाजवाब था। मैंने सभी से फिर से पूछा, "अब बताओ, कौन आज़ाद है?"

सभी बोले, "हम तो नहीं हैं।"

मैंने पूछा, "बनना है आज़ाद?"

"हाँ दीदी, बिलकुल।"

यह सुनकर सभी महिलाएँ हँस दीं। मैंने उनसे भी पूछा, "क्यों, आप भी आज़ाद नहीं हैं क्या?"

एक महिला ने बोला, "हम आज़ाद ही हैं मैडम जी।" इस पर बच्चे बोले, "अच्छा, कैसे हैं आप आज़ाद? बिना बताए कहीं जा सकती हैं क्या?"

उन्होंने आराम-से कहा, "हमारी आज़ादी तो तुम (बच्चे) ही हो।" उनके अलावा किसी भी महिला ने इस पर कुछ नहीं कहा, सिवाय एक-दूसरे के चेहरे देखने के।

मंजू कुमारी: *एकलव्य* होशंगाबाद में कार्यरत। बच्चों के साथ काम करने और उनके अनुभवों को लिखकर साझा करने का शौक।

सभी फोटो: मंजू कुमारी।

सृजन समूह पहल

शिक्षकों के पेशेवर विकास की सम्भावनाएँ

रश्मि पालीवाल

हम शिक्षकों से अमूमन लाचारी, कुण्ठा और निराशा से भरे स्वर सुनते हैं, जिसमें प्रशासन, पाठ्यक्रम, बच्चों, पालकों, समाज के बारे में शिकायतें और अत्यन्त अपेक्षाएँ होती हैं। दूसरी तरफ हम स्वप्रेरित और संवेदनशील शिक्षकों के वृतान्त सुनते हैं, जिनमें वे बच्चों के साथ अपने अनूठे और सन्तोषप्रद प्रयासों को हमारे साथ साझा करते हैं। *उम्मीद के रंग* पुस्तक में और *संदर्भ* के 'शिक्षकों की कलम से' वाले हिस्से में हम ऐसी प्रेरणादायक प्रस्तुतियाँ पढ़ रहे हैं लेकिन शिक्षक अपने स्वयं के विकास के बारे में कम ही विचार करते हैं। अपना स्वयं का विकास, अपनी पढ़ने-लिखने, सोचने-समझने, सृजन करने की क्षमता, कुशलता, विषय का

अपना ज्ञान, विषय और बच्चों के प्रति अपना नज़रिया, स्कूल के संचालन को लेकर अपनी प्रवृत्तियाँ - इन बातों में आ रहे बदलाव और विकास की चर्चा ज़्यादा नहीं होती। क्या इसकी सम्भावना है? शिक्षकों के साथ उनके पेशेवर विकास की जो भी व्यवस्थाएँ हैं, क्या वे इसकी गुंजाइश रखती हैं? स्वप्रेरित शिक्षक अपनी रुचि के अनुसार काम करते हैं, परन्तु क्या उनके और उनके साथ अन्य सामान्य शिक्षकों के समर्थन और संवर्धन के प्रयास से कुछ नया निर्मित कर सकते हैं? इन सवालों के जवाबों की कुछ झलकों के बारे में हम इस लेख में बात करेंगे।

शिक्षक दिवस के उपलक्ष्य में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की ऊधम सिंह नगर (उत्तराखण्ड) ज़िले की टीम ने, 4 सितम्बर 2022 को रुद्रपुर में शिक्षकों के एक सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें उन शिक्षकों ने शिरकत की जो एपीएफ की पहल पर बनाए गए सृजन समूह से जुड़े हुए थे। सृजन समूह का गठन 2020 में लॉकडाउन के समय में शिक्षकों के साथ नियमित शैक्षिक आदान-प्रदान के लिए किया गया था। हर सप्ताह शिक्षकों को चुनकर पठन सामग्री मोबाइल पर भेजी जाती थी और ऑनलाइन बैठक में लोग शामिल होकर उस सामग्री को पढ़ते थे, उस पर चर्चा करते थे। ऑनलाइन तकनीक के सघन उपयोग से लगभग 40 शिक्षकों के बीच नियमित और विस्तृत विचार-विमर्श की प्रक्रिया सफल रही। दो सालों में लगभग 300 लेख पढ़ने के लिए चुने गए और 100 ऑनलाइन बैठकों में शिक्षकों ने भाग लिया। शायद आपदा को अवसर बनाना इसी को कहते हैं। बाद में, एपीएफ की टीम के साथियों ने इन शिक्षकों के स्कूलों में पहुँचकर सहयोग करना भी जारी रखा। दो साल बाद, सितम्बर 2022 में शिक्षकों ने अपने ये अनुभव रुद्रपुर में आयोजित एक सम्मेलन में लिखकर प्रस्तुत किए।

सृजन समूह के शिक्षकों के स्वरों में सचमुच एक नई सम्भावना का सृजन होता दिख रहा है। ये है शिक्षकों के पेशेवर विकास की प्रक्रिया और व्यवस्था के एक सफल प्रयोग पर चिन्तन करने की सम्भावना। प्रस्तुत आलेखों को पढ़कर और उनका मंच से पठन सुनकर मेरे मन में कई उम्मीदें जागने लगीं। इन शिक्षकों ने अपने पेशेवर विकास के अनुभव पर गौर कर उसके सकारात्मक परिणामों पर आत्मचिन्तन किया था।

यहाँ हम उन कुछ स्वरों को सुनेंगे जो हम तक एक शिक्षक के आत्मिक विकास की गूँज पहुँचाते हैं। सबसे पहली बात जो शिक्षकों ने महसूस की वो यह कि उनके लिए स्वतंत्र अभिव्यक्ति व चिन्तन के अवसरों की कमी थी जो सृजन समूह ने दूर की, जैसे, "मैं यह कहना चाहती हूँ कि हम

सभी शिक्षक साथी अपने विद्यालय में नित्य प्रतिदिन सीखने-सिखाने का कार्य करते हैं - बच्चों को कुछ सिखाना, पाठ्य पुस्तकों पर काम करना या बच्चों के जीवन से जुड़े अनुभव सुनना आदि। इस समूह से जुड़कर हमें प्रोत्साहन के साथ-साथ अपनी अभिव्यक्ति का मंच भी मिला जहाँ हम स्वतंत्र रूप से अपने विचार रखते और सुनते हैं।"

फिर, शिक्षकों की पढ़ने की रुचि बनी, उन्हें पढ़ने का मतलब समझ में आया– जैसे, "समूह में जब आलेखों पर चर्चा होती है या पूछा जाता है कि इस आलेख या कहानी को पढ़कर आपको क्या समझ में आया तो लगता है, अब तक हम केवल पढ़ रहे थे। इसमें क्या समझ में आया, इस ओर तो हमारा ध्यान ही नहीं गया। ऐसा क्यों कहा गया होगा, इस तरफ सोचना शुरू किया। इस तरह की परिचर्चा से हमारे पढ़ने का नज़रिया बदला है।"

पढ़ना-समझना तो है ही और साथ ही अपनी पहले की समझ पर दुबारा से सोचना भी है, यह शिक्षकों ने महसूस किया, जैसे, "लेख पढ़े और अपने मन में जो गलतफहमियाँ थीं, उन्हें भी स्वीकार किया।"

अपनी समझ और अपनी क्षमताओं के विकास में क्या चुनौती है, इसे साहस और हर्ष के साथ स्वीकार करना, शिक्षक के आगे बढ़ने के आत्मविश्वास को बयान करता है। जैसे, "आलोचनात्मक दृष्टि से प्रतिक्रिया दे पाना - अभी मुझे इसे विकसित करने की आवश्यकता है। मुझे लगता है कि इस दृष्टि को अपनाने में सम्भवतः हमारे मन में सामने वाले के प्रति एक संकोच का भाव होता है कि वह क्या सोचेगा। आलोचना क्या है, कहीं-न-कहीं हमें यह भी समझने की ज़रूरत है। मुझे सदैव इस प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रही है कि कहाँ से बेहतरी मिले और मैं सुदृढ़ बनूँ।"

किसी भी तरह के अतिरिक्त प्रयास के लिए एक आम शिक्षक के मन में जो संकोच रहता है, उसे काबू कर पाने में मिली सफलता पर हर्ष और सन्तोष के स्वर भी उठे, जैसे, "रीडिंग कैंपेन की बात करूँ तो जब बार-बार कहानी की किताबों का ज़िक्र आता था, तो यह सोचती थी कि बच्चे किताब फाड़ देंगे, कितनी पुस्तकें खो जाएँगी, कौन निकाले, कोर्स ही पूरा नहीं होता आदि। इस सन्दर्भ में एपीएफ के लोगों का धन्यवाद करूँगी, पुस्तकालय तो नहीं परन्तु अपनी कक्षा में छोटी-सी लाइब्रेरी बनाई। बच्चे अपना नाम लिखकर एक डायरी में दर्ज़ करते हैं। वे किताब का नाम लिखकर उस किताब को पढ़ने के लिए घर ले जाते हैं और वापस करते समय अपना नाम डायरी में नोट कर आते हैं।"

शिक्षक द्वारा किसी किताब के प्रभाव को शिद्दत से महसूस करने का स्वर हमें सुनाई देता है - ऐसा प्रभाव जो एक नए प्रण को जन्म दे सके। जैसे, "*पढ़ना ज़रा सोचना* किताब पढ़कर मैंने स्कूल में पढ़ने-लिखने का माहौल बनाने की ठानी और फाउण्डेशन के सहयोग से विद्यालय में पुस्तकालय को चालू स्थिति में ले आई, जिसमें फाउण्डेशन के साथियों ने मेरा सहयोग किया। मेरे विद्यालय में पढ़ने की घण्टी का प्रयोग एक से पाँच तक के बच्चों में जारी है। मैंने तय किया है कि मेरे बच्चे केवल वर्णमाला वाली शिक्षण प्रक्रिया के पार्ट नहीं बनेंगे। वे कविता, कहानी व अच्छा बाल साहित्य पढ़कर अच्छे पाठक बनेंगे। यह अन्तर्दृष्टि भी इसी समूह से मिली।"

अपनी पेशेवर क्षमता और अपने कार्य की दिशा को नए सिरे से आकार देने के अलावा शिक्षकों के विकास की एक प्रक्रिया में बच्चों के साथ उनके सम्बन्ध भी बहुत अहम भूमिका निभाते हैं। सृजन समूह से जुड़कर शिक्षकों ने कैसे इस सम्बन्ध पर गौर किया, यह उनकी डायरी में लिखे अनुभवों से झलकता है। एक शिक्षक बच्चों के बारे में अपनी मानसिकता पर इस तरह पुनर्विचार कर सकता है, जैसे, "आज बच्चों की बातें सुनकर अजीब-सा लग रहा था कि हम बच्चों को रोज़ विद्यालय न आने पर कितना डाँटते हैं। परन्तु कुछ बच्चों के घर में बहुत परेशानियाँ हैं और हमें इसे समझने की ज़रूरत है तभी हम ठीक-से अपना शिक्षण कार्य कर पाएँगे।"

इसी तरह एक अन्य शिक्षक ने बच्चे के साथ अपने एक अनुभव पर विचार करते हुए लिखा कि, "हम वयस्क बच्चों को बच्चा समझकर कुछ भी इसलिए करते हैं कि हम समझते हैं कि बच्चे अभी बच्चे हैं। हम जो कर रहे हैं या कह रहे हैं, उसको बच्चे नहीं समझते हैं। पर बच्चे बहुत अच्छे अवलोकनकर्ता होते हैं, वे बहुत कुछ देखते-समझते हैं। हम वयस्कों को अपने व्यवहार पर बहुत अधिक ध्यान देने और उसमें सुधार करने की ज़रूरत है, जिससे बच्चों को एक अच्छी परवरिश मिल सके और वे भी भविष्य में अच्छे व्यक्ति बन सकें।"

स्वआकलन करना शिक्षकों के विकास को बल देने वाली एक उपयोगी प्रक्रिया हो सकती है। सृजन समूह में इस दिशा में भी प्रयास करने की तैयारी की गई। स्वआकलन करने के महत्व को शिक्षकों ने व्यक्त किया, जैसे, "अपनी कमियों को सुधारने तथा बेहतरी की तरफ आगे बढ़ने के लिए यह ज़रूरी है। इस पर विस्तार से चर्चा हुई। इसके कुछ बिन्दु हमने सोचे, जैसे क्या शिक्षक अपनी कक्षा के बच्चों की पारिवारिक आर्थिक पृष्ठभूमि को अच्छे से समझते हैं? अपनी कक्षा के बच्चों के सीखने की

प्रवृत्ति को अच्छे से समझते हैं? कक्षा शिक्षण के दौरान बच्चों को अभिव्यक्ति के मौके देते हैं? सवाल पूछने के लिए प्रोत्साहित करते हैं? बच्चों के घर-परिवार की भाषा को महत्व देते हैं? यह बहुत रोचक प्रक्रिया है और एक अवसर है, स्वयं के अन्दर झाँकने का।"

सृजन समूह से जुड़े शिक्षकों में आत्मावलोकन का स्वर उठा है और शिक्षा के बारे में अपनी नई समझ का स्पष्ट सरल निचोड़ भी उनके द्वारा व्यक्त होता दिखता है, जैसे, "अब यह भी समझ में आने लगा है कि हम क्या नहीं कर सके हैं और बच्चों से हमने क्या नया सीखा – यह आसानी-से स्वीकार होने लगा है, जो मेरे विचार से एक शिक्षक के लिए बहुत ज़रूरी है।"

कुछ समग्र बिन्दु जिन पर समझ बनी है कि:

- सीखना द्विमुखी प्रक्रिया है।
- पढ़ने का अर्थ है समझकर पढ़ना।
- बच्चे बातचीत, कविता, कहानी, खेल से जल्दी सीखते हैं।
- हर बच्चा सीख सकता है।
- बच्चे को जानना हर समस्या का निदान है।
- पूर्व तैयारी व प्रभावपूर्ण योजना से उद्देश्य पूर्ण हो सकता है।
- हमें पढ़ाना नहीं है बल्कि सीखने की प्रक्रिया में शामिल होना है।
- बच्चे नयापन पसन्द करते हैं।
- सीखने का वातावरण तैयार करना, अच्छे सुगमकर्ता की पहचान है।

रुद्रपुर सम्मलेन में जो अनुभव शिक्षकों ने पेश किए, उनमें से कुछ अनुभव आधारित आलेखों को हम *संदर्भ* के आगामी अंकों में पढ़ सकते हैं। इस तरह के लेखन से शिक्षक विकास के कार्यक्रमों की दिशा नज़र आने लगती है।

रश्मि पालीवाल: *एकलव्य* के सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम से जुड़ी रही हैं। विभिन्न राज्यों में विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के लिए पाठ्यक्रम व पाठ्यसामग्री निर्माण कार्य में सघन योगदान।

चित्र: पूजा के. मैनन: *एकलव्य*, भोपाल में बतौर जूनियर ग्राफिक डिज़ाइनर काम कर रही हैं। चूँकि वे अन्यथा बातचीत करने में झिझकती हैं, स्केचिंग ने उनके विचारों को सम्प्रेषित करने और टिप्पणियों का दस्तावेज़ीकरण करने में एक माध्यम का काम किया है।

सृजन समूह – एक प्रधानाध्यापक के अनुभव

धर्मपाल गंगवार

शिक्षकों के क्षमता संवर्धन के लिए शिक्षक प्रशिक्षण में अक्सर बात होती है। लेकिन ऐसे प्रशिक्षणों की अपनी सीमाएँ हैं। ये औपचारिक प्रशिक्षण समय की सीमा में बँधे होते हैं। इनमें शिक्षक की रुचियों एवं आवश्यकताओं की भी अनदेखी की जाती है जिससे शिक्षक के लिए ये आम तौर पर उतने रुचिकर नहीं होते हैं। इन सेवारत प्रशिक्षणों में यदि थोड़ी बहुत सैद्धान्तिक समझ बनती भी है तो उस पर फीडबैक नहीं मिल पाते, चर्चा नहीं हो पाती जिससे समझ अधूरी रहती है। सेवारत शिक्षण प्रशिक्षण में निरन्तरता भी नहीं होती है, जबकि शैक्षिक मुद्दों को समझने के लिए लगातार पठन-पाठन एवं चर्चा ज़रूरी होते हैं। शैक्षिक मुद्दों को बेहतर ढंग से समझने के लिए शिक्षकों के बीच ज़िले एवं ब्लॉक स्तर पर सीखने के अनौपचारिक माहौल की आवश्यकता महसूस होती है जहाँ शिक्षक स्वतंत्र रूप से शैक्षिक मुद्दों को समझने के लिए लगातार चर्चा कर सकें।

इसी सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए जनपद उधम सिंह नगर में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा ऑनलाइन समूह के माध्यम से बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया गया है। 24 मार्च 2020 को अचानक हुए लॉकडाउन ने जीवन में उथल-पुथल मचा दी, अचानक सब कुछ बन्द हो गया - केजी से पीजी तक सभी शिक्षण संस्थान बन्द हो गए, जीवन असहज हो गया। तब अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने क्षमता संवर्धन हेतु जो कार्य शुरू किया, वह आज भी जारी है। आपस में पढ़ने-लिखने का माहौल बनाने के लिए शिक्षकों के ऑनलाइन समूह ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके अन्तर्गत शिक्षकों को शिक्षा से जुड़ी हुई अत्यन्त गुणवत्तापूर्ण सामग्री पढ़ने को मिली और उस पर लगातार चर्चा भी की गई।

इस समूह में शैक्षिक लेख, कहानियों तथा अन्य सामग्री का चुनाव बहुत ही सूझबूझ से किया जाता है। यह सभी सामग्री हमारी शिक्षण प्रक्रिया से कहीं-न-कहीं जुड़ती है। सामूहिक चर्चा के दौरान समझ में आता है कि यह हमारे कक्षा-शिक्षण के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह कहना बहुत मुश्किल है कि कौन-सी कहानी अथवा लेख सबसे अच्छा लगा। लेकिन फिर भी रमेश थानवी

का लेख 'शिक्षक पढ़ेगा नहीं तो बढ़ेगा नहीं', निमरत खंदपुर का लेख 'क्या शिक्षक पेशेवर है', उमा अय्यर का लेख 'लोग और उनके सोचने-समझने के तरीके', कुमकुम रॉय का लेख 'राष्ट्र और राष्ट्रवाद', माधव केलकर का लेख 'क्यों पढ़ाते थे वैसे', सुशील जोशी का लेख 'परीक्षा न हो तो क्या तुम सीखोगे-पढ़ोगे नहीं?', सी.एन. सुब्रह्मण्यम का लेख 'फेल न किया तो क्या किया?' कमल महेंद्रू का लेख 'अच्छे शिक्षक के मायने', रेवा यूनुस का लेख 'क्या बचपन का सिर्फ एक ही मतलब हो सकता है?' तथा धर्मवीर भारती के लेख 'मेरा छोटा-सा निजी पुस्तकालय' ने बहुत अधिक प्रभावित किया एवं कक्षा शिक्षण में मदद की है। ये सारे लेख कक्षा शिक्षण की समझ विकसित करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

इन लेखों के साथ-साथ शिक्षा जगत की कोर किताबें *पढ़ना ज़रा सोचना, तोत्तोचान, दिवास्वप्न, कठिन है माता-पिता बनना, बच्चे की भाषा और अध्यापक - एक निर्देशिका, राज समाज और शिक्षा, पूड़ियों की गठरी, मैं इस तरह नहीं पढ़ूँगी, असफल स्कूल, शिक्षा के सरोकार* जैसी पुस्तकें पढ़ीं और उन पर बात की गई। कृष्ण कुमार जी की किताब *पढ़ना ज़रा सोचना,* अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा सृजन समूह के सभी शिक्षकों को शिक्षक दिवस पर तोहफे में दी गई। यह शिक्षा जगत की बहुत ही महत्वपूर्ण किताब है। इस किताब के सातों अध्याय पढ़कर सामूहिक चर्चा के द्वारा समझ बनाई गई। शिक्षा सम्बन्धी सैकड़ों आलेख तथा किताबें पढ़ने के बाद विद्यालय में शैक्षिक माहौल बनाने में बहुत मदद मिली है।

कौन-सा माहौल किसका ज़िम्मा?

प्रधानाध्यापक का दायित्व है कि वह अपने विद्यालय एवं सेवित बस्ती में पढ़ने-लिखने का माहौल तैयार करें। कोरोना काल पढ़ने-लिखने का माहौल बनाने के सन्दर्भ में बहुत ही चुनौतीपूर्ण समय रहा है क्योंकि बच्चों की ध्यान लगाने की क्षमता घट गई है, वे एक विषय पर अधिक देर तक केन्द्रित नहीं रह पाते हैं। हमारा विद्यालय ग्रामीण क्षेत्र में स्थित है जहाँ की अधिकतर आबादी निरक्षर है। घरों में पढ़ने-लिखने का माहौल नहीं है। *पढ़ना ज़रा सोचना* किताब पढ़कर ही मुझे समझ आया कि प्रधानाध्यापक होने के नाते मुझे ही गाँव में पढ़ने-लिखने का माहौल बनाने की ज़रूरत है। इसके लिए कोरोना काल के दौरान सामुदायिक पुस्तकालय शुरू किया गया। इस सामुदायिक पुस्तकालय में स्कूल के पुराने छात्र जो अब इंटर या हाई स्कूल कर रहे थे, उनके साथ-साथ स्कूल के बच्चे भी जुड़े। यह सामुदायिक पुस्तकालय *ज्ञान विज्ञान समिति* की किताबों, *चकमक, संदर्भ*

तथा *साइकिल* जैसी पत्रिकाओं एवं स्कूल के पुस्तकालय में उपलब्ध बाल साहित्य से शुरू किया गया।

मैं प्रत्येक रविवार को गाँव में जाता और पाठकों से पढ़ी हुई किताबों पर चर्चा करता। एक कहानी सभी के सम्मुख पढ़कर हम उस पर चर्चा करते हैं। बच्चे कहते हैं कि इन किताबों में बहुत मज़ा आता है। कोविड काल में शैक्षिक माहौल बनाने के लिए यह बहुत ही नायाब प्रयोग रहा है। कुछ बड़े बच्चों ने *निर्मला, गबन, फेरा, लज्जा, अग्नि की उड़ान, एक था मोहन, गे नेक, टॉलस्टॉय की कहानियाँ तथा प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानियाँ* जैसी किताबें भी पढ़ी हैं। जब बच्चों में पढ़ने की आदत विकसित हो जाती है तो वे बड़ी किताबें भी पढ़ने लगते हैं। कक्षा-5 की आयशा ने शिक्षा जगत की प्रसिद्ध पुस्तक *पहला अध्यापक* पढ़ी है। ये बच्चे नियमित पाठक बन गए हैं। आसपास के गाँवों में भी इस सामुदायिक पुस्तकालय की चर्चा हो रही है। आज भी बच्चे पुस्तकालय से किताबें ले जाते हैं। कोरोना काल में बच्चों के सीखने एवं पढ़ने की रुचि बनाए रखने में पुस्तकालय ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह समझ भी कृष्ण कुमार जी की किताब *पढ़ना ज़रा सोचना* से ही विकसित हुई है।

बिना योजना कुछ न करना

विद्यालय खुलने पर शिक्षा सम्बन्धी किताबें एवं लेख पढ़ने के उपरान्त बनाई गई समझ के अनुरूप शिक्षण कार्य किया गया। इसके लिए शिक्षण योजना बनाना बहुत ज़रूरी है। बिना योजना के हम प्रभावी शिक्षण नहीं कर सकते। पढ़ाए जाने वाले पाठ का

उद्देश्य क्या है, इस पाठ से बच्चों में क्या सन्देश पहुँचाना है आदि चीज़ें योजना में शामिल रहती हैं। बच्चों को बातचीत के मौके एवं सोचने के अवसर देने वाले प्रश्न पाठ को अर्थपूर्ण बनाते हैं। खुले प्रश्न बच्चों की कल्पनाशीलता को बढ़ाते हैं, स्वतंत्र रूप से सोचने के मौके देते हैं। अनेक छोटी-छोटी कविताओं, कहानियों पर शिक्षण योजना तैयार करके बच्चों को बातचीत के अवसर प्रदान करने से उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता धीरे-धीरे बढ़ने लगी। बच्चों के मौखिक भाषा विकास के लिए यह बहुत ज़रूरी है। यह बात शिक्षा जगत एवं भाषा की समझ बनाने के लिए प्रसिद्ध किताब *भाषा का बुनियादी ताना-बाना* में भी कही गई है।

बातचीत किस ढंग से की जाए, कौन-से प्रश्न सोचने के लिए रखे जाएँ, कितने प्रश्न सूचना आधारित हों – इन सब पर सोच-विचार आवश्यक है, साथ ही, धीमी गति से सीखने वाले बच्चों के लिए भी योजना में स्थान होना ज़रूरी है। बातचीत का मतलब ही है कि बच्चों को सोचने के अवसर दिए जाएँ। कुछ रचनात्मक चीज़ें भी शिक्षण योजना में रखना महत्वपूर्ण होता है। योजना बनाते समय सभी बच्चों की सहभागिता पर भी विशेष ध्यान रखने की ज़रूरत होती है। योजना बनाकर पढ़ाने से शिक्षण प्रभावकारी होता है और सीखने का उत्साहवर्धक माहौल बनता है। इस विधि से कार्य करने से कोरोना काल में हुए लर्निंग लॉस की भरपाई करने में बहुत मदद मिली है।

हमने क्या पाया?

कक्षा में काम करते एवं बच्चों का अवलोकन करते हुए समझ बनी कि

जब बच्चों को सोचने वाले प्रश्न दिए जाते हैं तो वे सोचने की मेहनत करते हैं और अपनी समझ बनाते हैं। एक बार मैं बरखा सीरीज़ की किताब *तोता* पर योजना अनुसार बात कर रहा था। प्रश्न था कि "तोते को चोट कैसे लगी होगी?" सभी बच्चों ने तरह-तरह के उत्तर दिए। जुनैद नाम का बच्चा पूरा दिन सोचता रहा और फिर अगले दिन उसने मुझे आकर बताया कि "तोते को माँझे से चोट लगी होगी।" मैंने पूछा, "तुमने यह कैसे सोचा?" बच्चे ने बताया, "मैं सोचता रहा तभी अचानक मेरे दिमाग में आ गया।" इससे मुझे यह बात समझ में आई कि सोचने के लिए प्रेरित करने वाले प्रश्न कितने महत्वपूर्ण होते हैं। इसी तरह से द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी की कविता 'जी होता चिड़िया बन जाऊँ' पर कार्य कर रहा था। शिक्षण योजना के अनुसार बच्चों से यह प्रश्न पूछा गया कि "चिड़िया कहाँ रहती है?" बच्चों ने उत्तर दिया, "पेड़ पर।"

इसी से जुड़ा हुआ अगला प्रश्न था कि "बताओ, पेड़ पर और कौन-कौन रहता है?" बच्चों ने धीरे-धीरे सोचते हुए जो चीज़ें बताईं, वे आश्चर्यचकित करने वाली थीं। बच्चों द्वारा बताए जीव-जन्तुओं को मैं ब्लैक बोर्ड पर लिखता गया जो इस प्रकार हैं- कबूतर, तोता, कौवा, चिड़िया, मैना, बगुला, साँप, चील, बाज़, बन्दर, मोर, कीड़े-मकोड़े, कोयल, बुलबुल, चींटा-चींटी, गिलहरी, तितली, मधुमक्खी, जुगनू, मकड़ी, भुनगे, हंस, गिरगिट,

उल्लू, चमगादड़, सूड़ी, जोंक, लंबडोर तथा लंगूर। जब बच्चों को पता चलता है कि इतने अधिक प्राणियों का घर पेड़ है, तब जाकर उन्हें समझ में आता है कि पेड़ कितना महत्वपूर्ण तथा ज़रूरी है। तो जब हम कहते हैं कि पढ़ना है समझना, और समझ का विस्तार करना, तो समझ के विस्तार के लिए कार्य योजना बनाने की ज़रूरत होती है। पाठ योजना बनाने की यह समझ सृजन समूह में पढ़ते हुए ही विकसित हुई है।

पढ़ना ज़रा सोचना किताब में कृष्ण कुमार जी पढ़ने की घण्टी की बात करते हैं। एक ऐसा समय जो बच्चों को स्वतंत्र रूप से पढ़ने का अवसर देता है। ऐसी जगह पुस्तकालय है जहाँ किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं, कोई भी बच्चा किसी किताब को उलट-पुलट सकता है, देख सकता है, पढ़ सकता है। स्वयं पढ़कर सुनाना भी एक बहुत ही उद्देश्यपूर्ण और महत्वपूर्ण गतिविधि है, यह बात कृष्ण कुमार जी ने *बच्चों की भाषा और अध्यापक – एक निर्देशिका* किताब में कही है। सुनते-सुनते बच्चे शब्दों को पकड़ने लगते हैं। किताबों पर बातचीत करने से बच्चे कहानी का पूरा सन्दर्भ समझ लेते हैं, भले ही उन्हें अभी पढ़ना न भी आता हो। बातचीत करने से बच्चों की अभिव्यक्ति की क्षमता बढ़ती है, उनका शब्द भण्डार बढ़ता है और धीरे-धीरे वे कब किताब पढ़ना सीख जाते हैं, पता ही नहीं चलता। ऐसे कई उदाहरण हमारे विद्यालय में हैं।

प्रधानाध्यापक का दायित्व है कि वह अपने सहयोगियों को क्षमता संवर्धन के लिए भी प्रेरित करें। इसके लिए प्रधानाध्यापक को खुद भी लगातार कक्षा में पढ़ाना ज़रूरी है। हमारे सहयोगी भी इसी तरह से शिक्षण कार्य करते हैं, शिक्षक समूह में जुड़कर अपनी क्षमता संवर्धन के लिए प्रयासरत हैं। शिक्षकों के क्षमता संवर्धन के लिए कक्षा शिक्षण पर लगातार बातचीत करना तथा पढ़ते रहना बहुत ज़रूरी है। कृष्ण कुमार तो यहाँ तक कहते हैं कि पढ़ना तो अध्यापक का व्यसन होना चाहिए।

धर्मपाल गंगवार: प्रधानाध्यापक, राजकीय प्राथमिक विद्यालय, हल्दीपचपेड़ा, खटीमा, ऊधम सिंह नगर।

सभी चित्र: स्वाति कुमारी: बिहार के एक विस्थापित परिवार में जन्मीं स्वाति ने दिल्ली के कॉलेज ऑफ आर्ट से पेंटिंग में बी.एफ.ए. और अंबेडकर यूनिवर्सिटी, दिल्ली से विज़ुअल आर्ट्स में एम.ए. किया है। उनकी खोज इस बात के इर्द-गिर्द घूमती है कि शरीर और स्थान कैसे कार्य करते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं, बातचीत करते हैं और एक-दूसरे को प्रतिक्रिया देते हैं।

प्रतिक्रिया

पेगी मोहन के आलेख 'क्या अँग्रेज़ी भारत के भविष्य की भाषा है?' पर प्रतिक्रिया

लाल्टू

बराबरी और इन्साफ जैसे लफ्ज़ अभी हमारी ज़बानों में मौजूद हैं - लाल्टू

यह प्रतिक्रिया अँग्रेज़ी के विरोध में या किसी भारतीय भाषा के प्रेम में नहीं है। आज कोई बेवकूफ ही यह कह सकता है कि अँग्रेज़ी का बहिष्कार हो। हमारा मकसद भाषा पर बातचीत को सही सवालों के दायरे में लाना है।

बेमानी सवाल

क्या भारत का भविष्य अँग्रेज़ी है? क्या भारत का भविष्य अँग्रेज़ी में है? क्या भारत का भविष्य अँग्रेज़ी ही है?

पेगी मोहन के सवाल को आप जैसे भी पढ़ें, यह सवाल नया नहीं है।

यह मानीखेज़ सवाल हो सकता है, पर आज़ादी के पहले से ही बेमानी ढंग से यह सवाल चला आ रहा है - यानी यह तकरीबन सौ साल पुराना है। बेमानी इसलिए कि आज़ादी के वक्त भारत की साक्षरता 12-14% थी, जिसमें अँग्रेज़ी जाननेवालों की तादाद और भी कम थी। फिर भी यह सवाल पढ़े-लिखे तबकों में उठता रहा, या उठाया जाता रहा। एक राष्ट्र के लिए एक ज़बान होनी चाहिए, अँग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है, अँग्रेज़ी में ही ज्ञान-विज्ञान सब कुछ है, अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर चार सौ साल राज किया है, आदि तमाम झूठ गढ़े गए। झूठ गढ़ने वाले इसे झूठ मानते हों, ऐसा नहीं है। अक्सर हम अपनी सुविधा और ज़हनी सुकून के लिए ऐसी बातों पर यकीन करते हैं, जो झूठ होती हैं। जो देख रहे हैं, उस पर यकीन न कर, जो हम मानते हैं, वही हकीकत है, ऐसा भ्रम होना आम बात है। पेगी खुद लम्बे अरसे से मादरी ज़बान में तालीम की पक्षधर रही हैं, पर अब मानो हार मानकर अँग्रेज़ी की अहमियत पेश कर रही हैं।

संजीदा मॉडल - सरलीकृत इस्तेमाल

पेगी अपने लेख की शुरुआत में जैविक विकास पर जाने-माने विद्वान स्टीफेन जे. गूल्ड का सन्दर्भ लेती हैं। जैविक विकास कोई चार पीढ़ियों में

होने वाली चीज़ नहीं है, दसों-हज़ारों पीढ़ियाँ लग जाती हैं, तब प्रजातियों में अहम बदलाव दिखते हैं। ऐसा पाया गया है कि कभी-कभार अचानक कई प्रजातियों में एक साथ तेज़ी-से बदलाव हुए हैं, पर यह 'अचानक' भी एक लम्बी अवधि (लाखों बरसों) में होता है और इस दौरान परिवेश में बहुत बड़े बदलाव होने ज़रूरी होते हैं। जैविक विकास की इस घटना को जब जीव-विज्ञान से इतर दूसरे खित्तों में तेज़ी-से हो रहे बदलावों को समझने के लिए मॉडल की तरह इस्तेमाल किया जाए, तो इसमें कई मुश्किल खासियतें (खास तरह का क्रम, शुरुआत और अन्त के दौर की जटिलताएँ, आदि) ज़रूरी होती हैं। यहाँ इस मॉडल का निहायत सरलीकृत इस्तेमाल किया गया है। उनकी यह बात सही है कि बदलाव जब एक सीमा को पार कर जाए तो उसे उलटकर, वापस पहले के हाल पर आया नहीं जा सकता या लौट आना हमेशा मुमकिन नहीं होता है। बेशक, आज दक्षिण एशिया में हालात ऐसे हैं कि यहाँ का एलीट वर्ग तेज़ी-से भारतीय भाषाओं को दरकिनार कर अँग्रेज़ी को अपनाने की ओर बढ़ रहा है।

अपनी बात पर वज़न डालने के लिए पेगी टेलीफोन के इस्तेमाल की मिसाल लेती हैं। टेक्नोलॉजी के इंकलाब दुनिया भर में हो रहे हैं और इसका आम लोगों की ज़बान पर असर भी पड़ता है। पर हर जगह अपनी ज़बान की जगह विदेशी भाषा अपनाने जैसी बात नहीं हो रही है। पेगी इस मिसाल से यह कहना चाहती हैं कि भारतीय भाषाओं में ज्ञान की दुनिया की पहुँच दूर तक नहीं है, जैसे कि लैंडलाइन फोन होने की, या उससे भी बदतर हाल में फोन न होने की वजह से जीवन में कुछ सार्थक कर पाने की सीमाएँ हैं। सतही तौर पर यह तर्क सही है, पर भाषा के मुद्दे पर जैसी संजीदा बहस होनी चाहिए, टेलीफोन जैसी मिसाल उससे कतराती हुई चलती है। अँग्रेज़ी के पक्षधर हमेशा ही ऐसा करते रहे हैं।

बहस संज्ञान पर हो

बहस संज्ञान यानी कॉग्निशन पर होनी चाहिए। कुदरती तौर पर इन्सान की काबिलियत को पूरी तरह खिल पाने के लिए जिन प्राथमिक औज़ारों की ज़रूरत है, उनमें से भाषा अहम है। अँग्रेज़ी-संस्कृत-हिन्दी के पक्ष-विपक्ष में बहस इस मुद्दे पर न होकर राष्ट्र, साइंस-टेक्नोलॉजी, अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंग आदि पर होती रहती है। यह हास्यास्पद है, क्योंकि जिस मुल्क में तीन-चौथाई से अधिक लोग हाई-स्कूल भी पास नहीं कर पाते, वहाँ ऐसी बातों पर बहस जिनका इस अक्सरियत से कोई ताल्लुक ही नहीं है, बेमानी है। गौरतलब यह भी है कि इम्तहानों में ज़्यादातर बच्चे अँग्रेज़ी और गणित में ही फेल होते हैं।

पेगी आलोक राय की किताब का ज़िक्र करते हुए ब्राह्मणों के वर्चस्व का ज़िक्र करती हैं, पर लगातार और समान्तर चल रहे जाति-वर्ग-लिंग के द्वन्द्वों के बारे में वे अधिक नहीं कहतीं। आलोक ने देवनागरी और कैथी लिपि के चयन में ब्राह्मणों और कायस्थों के बीच वर्चस्व की लड़ाई में ब्राह्मणों की जीत और देवनागरी के चयन की ऐतिहासिक पड़ताल की है। पूरी वर्णमाला के आधे अक्षर दोनों लिपियों में एक-जैसे हैं, और बाकी आधे अलग हैं। भाषा के बड़े सवाल में लिपि का मसला दरअसल इतना अहम कभी भी नहीं रहा, क्योंकि लिपि पढ़ने-लिखने की काबिलियत हमेशा ही, और दो-चार दशकों पहले तक, बहुत छोटे तबकों तक सीमित रही है। इसे ज़बरन पहचान का मुद्दा बनाया जाता है, भाषा और लिपि को एकसाथ देखने का कोई तुक सचमुच नहीं है। मसलन, अगर आज़ादी के वक्त यह तय हो जाता कि सभी भारतीय भाषाएँ रोमन लिपि में लिखी जाएँ, तो इससे बहुत ही कम लोगों पर कोई असर पड़ता।

यह बात सही है कि भारतीय भाषाओं में संस्कृत थोपने (न केवल पुरानी तत्सम, बल्कि हाल में गढ़ी गई कृत्रिम शब्दावली) की वजह से जो नुकसान हुआ है, उससे उबरना आसान नहीं है। पर इसका हल यह कैसे हो गया कि विकल्प अँग्रेज़ी है! विकल्प तो लोकभाषाओं से शब्दावली तैयार करने का होना चाहिए – खास तौर पर अगर संज्ञान हमारा मकसद है।

पेगी लैंडलाइन फोन का मुहावरा इस्तेमाल करते हुए 'शुद्ध' हिन्दी की बकवास को कटघरे में खड़ा करती हैं, पर अँग्रेज़ी को जाने कैसे मोबाइल फोन के साथ जोड़ देती हैं। टेक्नोलॉजी के कुछ पहलू ऐसे होते हैं, जिनसे हम बच नहीं सकते, जैसे पिछली आधी सदी में कम्प्यूटर और सूचना की टेक्नोलॉजी रही है। इन्हें पहचानकर जल्दी-से अपना लेना ही बेहतर होता है। ऐसा ही अँग्रेज़ी के बारे में सच हो तो फिर हमें अँग्रेज़ी अपना लेनी चाहिए और बाकी ज़बानों

को अलविदा कह देना चाहिए। जिन मुल्कों में यूरोपी ज़बानें ही चलती हैं, वहाँ अक्सर अलग-अलग वजहों से निचले तबकों के कुछ लोग ऊपर आ पहुँचते हैं। ऐसा उन दूसरे मुल्कों में भी होता रहा है जहाँ यूरोपी ज़बानें नहीं चलती हैं। सियासी और माली हालात इसके अनुकूल हों तो कुछ भी मुमकिन है।

यह समझ गलत है कि सम्पन्न लोगों की भाषा अपना लेने पर ही निचले तबकों के लोग सम्पन्न हो पाते हैं। अँग्रेज़ी सीखने की वजह से अमेरिका के काले लोग गोरों की गुलामी से आज़ाद नहीं हुए, या दक्षिण अमेरिका में मूल निवासी इस्पानी या पुर्तगाली सीखकर ऊपरी तबकों के बराबर नहीं हो गए। काले लोगों की कहानी लम्बे जद्दोजहद की कहानी है। कानूनी तौर पर गुलामी से छूटने के बाद भी वे गोरों के बराबर न हो पाए। उनका संघर्ष डुबोएस जैसे बुद्धिजीवी और मार्कस गार्वे, मैलकम एक्स जैसे जुझारू अगुवाओं और उनके साथ चले लाखों लोगों की कुर्बानियों की कहानी है। आज भी अँग्रेज़ी में लिखते हुए काले लेखक अपनी अफ्रीकी मूल की पहचान को ढूँढ़ते हैं और उसी पहचान में गर्जना करते हैं। हिन्दुस्तान में कई चालाक अँग्रेज़ीपरस्त इन मिसालों को सामने रखकर अँग्रेज़ी को डीकॉलोनाइज़ करने की बात करते हैं। पेगी ने लिखा है कि नॉन-एलीट वर्ग अँग्रेज़ी पर दावा ठोक रहे हैं, यह कहन एलीट लोगों की चालाकी है। सच यह है कि यह पूरी प्रक्रिया एक नया उपनिवेशीकरण है, भले ही ऐसा लगता हो कि गुलाम हो रहा इन्सान खुद इस गुलामी की ज़ंजीरें चूम रहा है।

अँग्रेज़ी को ताकत किससे मिली?

बीसवीं सदी की शुरुआत तक अँग्रेज़ी का कोई असर हिन्दुस्तान पर नहीं था। दक्षिण एशिया महज़ 89 सालों तक (400 नहीं) उपनिवेश रहा है। सन् 1857 में केवल 40,000 अँग्रेज़ इस उपमहाद्वीप में थे (पेशावर से श्रीलंका और मुम्बई से म्यानमार तक)। इससे ज़्यादा तादाद में यहाँ अफ्रीकी लोग (जैसे स्वाहिली भाषा बोलने वाले) मौजूद रहे होंगे। कुछ जगहों पर कम्पनी राज और मिशनरियों की वजह से यूरोपी तालीम जगह बना रही थी, पर वह नाममात्र थी। बीसवीं सदी में भी बिलकुल ऊपरी खित्तों को छोड़कर सारा प्रशासन हिन्दुस्तानी ज़बानों में ही होता था। सदी की शुरुआत तक पूरे उपमहाद्वीप में अँग्रेज़ों की तादाद एक लाख पार कर गई थी। दूसरी जंगे-अज़ीम के दौरान आए अँग्रेज़ सिपाहियों को रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी सिखाई जाती थी (There was a brown crow – दरवाज़ा बन्द करो; There was a cold day - दरवाज़ा खोल दे)। तो अँग्रेज़ी को यह ताकत

कैसे मिली, जो आज दिखती है? अँग्रेज़ी की यह ताकत काले साहबों यानी यहाँ के एलीट-वर्गों की वजह से है। दरअसल, जिसे आम तौर पर colonial period या उपनिवेशी दौर कहा जाता है, जिसमें कम्पनी राज को शामिल कर लिया जाता है, उसका ज़्यादातर अँग्रेज़ों के पिट्ठुओं और उनके किए गए ज़ुल्मों का इतिहास है - सामन्ती रजवाड़े और ज़मींदार, और दलक जातियों ('सवर्ण' जैसे सुन्दर शब्द से जाने जाते) के मुख्यत: मर्दों के वर्चस्व का इतिहास है। इसीलिए कुछ दलित बुद्धिजीवियों ने इस इतिहास के हर पहलू को पलटने की (भाषा समेत) कोशिश की है। पर ब्राह्मणी वर्चस्व वाली तत्सम-लदी हिन्दी का विकल्प अँग्रेज़ी ज़बान नहीं हो सकती है। सही विकल्प हर किसी की अपनी ज़बान है। इस प्रसंग में कई पुराने सवाल अब बेमानी हो गए हैं, जैसे कि एक देश में आखिर कितनी भाषाओं में काम किया जा सकता है। आज टेक्नोलॉजी की मदद से सैकड़ों ज़बानों में काम कर पाना आसान है, बशर्ते ऐसा करने की चाहत हो और इसके लिए उचित पैसा लगाया जाए। ऐसे सभी सवालों के आसान जवाब हैं, कोई मानना चाहे तो।

अपनी ज़बान में महारत बगैर...

बहस इस बात पर होनी चाहिए कि लोकभाषाओं की शब्दावली वापस

मुख्यधारा की भाषाओं में कैसे लाई जाए। संज्ञान के स्तर पर किस भाषा की अहमियत है, इस पर बात होनी चाहिए।

पेगी जापान, चीन जैसे दीगर मुल्कों की मिसाल लेकर कहती हैं कि वहाँ इलाकाई ज़बान में आधुनिक तालीम, ज्ञान-विज्ञान आदि मुमकिन हुए हैं। और हिन्दुस्तान में हुक्कामों की ज़बान हमेशा आम लोगों से दूर की रही है। उनकी यह बात सही है कि आने वाले वक्तों में जिन भाषाओं में साइंस और टेक्नोलॉजी का विमर्श नहीं हो पाएगा, वे पिछड़ती जाएँगी। बेशक हिन्दुस्तान में मॉडर्न साइंस पूरी तरह से एक एलीट कारोबार है, और यह अँग्रेज़ी में ही हो रहा है। इसलिए अँग्रेज़ी का बहिष्कार बेवकूफी है। पर सवाल यह है कि क्या अपनी ज़बान में काबिलियत के बगैर अच्छी अँग्रेज़ी सीख पाना मुमकिन है? कामचलाऊ अँग्रेज़ी से हम अँग्रेज़ी में विज्ञान की शब्दावली तो सीख सकते हैं, पर विज्ञान नहीं सीख सकते। पिछली सदी में दुनिया भर में भाषाविद इन बातों पर बहस कर चुके हैं और इस पर अच्छी समझ बन चुकी है।

सापिर, ह्वोर्फ से वाइगोत्सकी तक और बाद में चेतना के विज्ञान और आर्टीफिशियल इंटेलिजेंस पर शोध करने वाले कई लोगों ने इस पर बहुत कुछ कहा है। सापिर-ह्वोर्फ ने भाषाई निश्चितता का सिद्धान्त दिया था, कि हमारे वजूद में भाषा के अलावा और कुछ अर्थ ही नहीं रखता, जिसे हम दुनिया मानते हैं, उसे भाषा ही हमारे लिए बनाती है - यह अतिरेक था; पर उसके बाद भी तमाम भाषाविदों ने बार-बार चेताया है कि भाषा ही जैविक विकास का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। दुनिया और जीवन के प्रति हमारा नज़रिया, इनके साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध है। हम अपनी बात को औरों तक पहुँचाने और सही-गलत के बारे में अपनी समझ साझी करने के लिए भाषा का इस्तेमाल करते हैं।

पिछली सदी के अन्त में नामी मनोवैज्ञानिक जाक्स लाकान की सबसे ज़्यादा पढ़ी गई उक्ति है - 'द अन्कांशस इज़ स्ट्रक्चर्ड लाइक अ लैंग्वेज (अवचेतन की संरचना भाषा की तरह होती है)'। अगर अवचेतन और भाषा के बीच ऐसा गहरा सम्बन्ध है तो निश्चित ही मादरी ज़बान का महत्व हमारी आम समझ से कहीं ज़्यादा है। हमारे देशी विद्वान इनको पढ़ते-पढ़ाते हैं और अँग्रेज़ी में हमें बतलाते हैं कि थोपी गई भाषा मनुष्य के सामान्य विकास में बाधा पहुँचाती है और कई तरह की विकृतियाँ पैदा करती है। पिछले सौ से भी ज़्यादा सालों में इस पर बहुत कुछ लिखा गया है, इसके बावजूद वे अँग्रेज़ी को चुनते हैं। यह चयन एक तरह का चरमपन्थी रवैया है। यह जानते हुए कि देश की आबादी के बहुत बड़े

हिस्से को अँग्रेज़ी नहीं आती, यह तय करना कि हम सारा बौद्धिक काम अँग्रेज़ी में करेंगे, ज़ाहिर तौर पर एक ज़िद्दी, अड़ियल और फैनाटिक (चरमपन्थी) रवैया है। यह और बात है कि अपने आम पाखण्डी और सामन्ती रवैयों की तरह ही वे अँग्रेज़ी थोपने के खिलाफ बोलने वालों को चरमपन्थी कहते हैं।

पेगी हिन्दी-माध्यम स्कूलों में अँग्रेज़ी की पढ़ाई की सही आलोचना पेश करती हैं। पर वे यहीं रुक जाती हैं कि भाषा सीखने का यह सही तरीका नहीं है। बेशक, महँगे अँग्रेज़ी-माध्यम स्कूलों में अँग्रेज़ी की पढ़ाई बेहतर है, पर छोटे शहरों और यहाँ तक कि गाँवों में जो बड़ी तादाद में अँग्रेज़ी-माध्यम स्कूल उग आए हैं, वहाँ अँग्रेज़ी की पढ़ाई किस कदर घटिया है, इस पर वे कुछ नहीं कहतीं। यह बात इसलिए अहम है कि अँग्रेज़ी आज भी विदेशी ज़बान है और इसे पढ़ाने लायक अध्यापक बड़ी तादाद में मिलते नहीं हैं। चूँकि पेगी अलग-अलग विधाओं से मुहावरों का इस्तेमाल करती हैं, उन्हीं की शैली में विज्ञान के फलसफे पर थॉमस कुन के इस कथन का इस्तेमाल कर सकते हैं कि नतीजे तक पहुँचने के लिए चुने गए आँकड़े या तथ्य 'theory-laden' यानी पहले से मान लिए गए सिद्धान्त से लदे होते हैं। उन्होंने अपनी बात को सही ठहराने के लिए दिल्ली के हिन्दी-माध्यम स्कूलों में अँग्रेज़ी की पढ़ाई को चुना। तर्क के सिलसिले में यह चयन बिलकुल सही लगता है। पर जैसा ज्ञान-मीमांसा में कहा जाता है, ज्ञान पाने का कोई भी साधन (भाषा, एहसास, तर्क, जज़्बात) बौद्धिक भ्रम की ओर ले जा सकता है और इस बात के मद्देनज़र हमें पूरी सावधानी बरतनी चाहिए।

निरन्तरता का तर्क कितना सही?

अँग्रेज़ी के बढ़ते वर्चस्व से हालात कहाँ पहुँचेंगे, इसके लिए हम उन तमाम लोगों को देख सकते हैं, जिन्हें ज़बरन अपनी ज़बान से बिछुड़ना पड़ा है। अफ्रीका से गुलाम और बँधुआ बनाकर वेस्ट इंडीज़ में बसाए गए लोगों ने किस तरह अँग्रेज़ी को अपनाया, इस पर पेगी का मौलिक काम है और वह अपने इस तजुर्बे को भारतीय भाषाओं के अँग्रेज़ीकरण और भविष्य में कभी अँग्रेज़ी के भारतीय भाषा बन जाने को समझने के लिए बखूबी इस्तेमाल करती हैं। पर भाषा में बदलाव में continuum यानी निरन्तरता का उनका तर्क अँग्रेज़ीकरण से कहीं ज़्यादा तत्समीकरण के लिए इस्तेमाल हो सकता है। हिन्दी इलाकों में यह साफ देखा जा सकता है। किसानी को कृषि, मानुष या माणुख को मनुष्य जैसे भाषाई निरन्तरता के अनगिनत उदाहरण हैं - यहाँ तक कि अपने वक्तों में प्रचलित प्राकृत और दीगर

भाषाओं से इकट्ठा कर पाणिनी और उनके शिष्यों ने जो संस्कृत शब्द गढ़े, उन्हें लोकभाषाओं में प्रचलित शब्दों का मूल कह दिया जाता है। और ब्राह्मणवादी वर्चस्व की वजह से इसे कोई चुनौती नहीं देता। कोलकाता और मुम्बई की हिन्दी के साथ दिल्ली या लखनऊ की हिन्दी में निरन्तरता देखें या हैदराबाद की दकनी ज़बान के साथ लखनऊ की हिन्दुस्तानी को साथ रखकर देखें।

वेस्ट इंडीज़ की मिसाल हमारे सन्दर्भ में कितनी सही हो सकती है? वहाँ अफ्रीका और हिन्दुस्तान से लोगों को ज़बरन ले जाकर बसाया गया। वे अपने परिवेश से कट गए। भाषा चेतना का अहम हिस्सा है। और चेतना के विज्ञान में हर कोई यह मानता है कि चेतना के हर पहलू में परिवेश की अहम भूमिका है। इसलिए गुलाम और बँधुआ लोगों की क्रीओल ज़बान से अँग्रेज़ी की निरन्तरता की धारणा को सीधे भारतीय भाषाओं और अँग्रेज़ी की निरन्तरता में स्थापित नहीं किया जा सकता है।

भारतीय भाषाओं की समस्याएँ कम नहीं हैं। मसलन, मानकीकरण के नाम पर खड़ी बोली हिन्दी में जानबूझकर आम लोगों में प्रचलित तकनीकी शब्दावली को भुलाकर गढ़े हुए बनावटी तत्सम शब्द डाले गए और इस तरह 'हिन्दी' धीरे-धीरे अपने ही मुल्क में पराई ज़बान हो चली। तो क्या इसका हल अँग्रेज़ी में है? ज़ाहिर है कि ऐसा हल सुझाने वाले वही होंगे जिन्हें अँग्रेज़ी से फायदा है। मुमकिन है कि फायदा लेने वाले ये लोग छल-बल-कौशल से हालात यहाँ तक खींच

लाए हैं कि आगे उन्हीं की चलेगी और अँग्रेज़ी ही भारत का भविष्य हो। क्या भारतीय ज़बानों में पढ़ने-लिखने वाले इस संकट को समझ रहे हैं? अव्वल तो भारतीय भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखक शासक वर्गों के साथ हैं। उन्हें अपने फौरी हितों की फिक्र है। इसलिए पेगी (और उन्हें सामने रख पीछे खड़े एलीट वर्ग के लोग) की बात सही है या नहीं, इससे ज़्यादा यह सोचने की ज़रूरत है कि कितनी सदियों तक यह लड़ाई चलेगी कि दक्षिण एशिया का हर बच्चा अपनी कुदरती काबिलियत को पूरी तरह खिलने दे पाए। ये आसान सवाल नहीं हैं। लड़ाई तो चलेगी।

पेगी ने एक हिन्दुस्तानी के अँग्रेज़ी सीखने के साथ उसकी identity change यानी पहचान में तब्दीली की बात की है। उनकी नज़र उसकी वर्ग-पहचान में बदलाव पर है। वक्त के साथ मध्य-वर्ग में शामिल लोगों की तादाद बढ़ी है और आगे और बढ़ने के आसार हैं, पर इसका मतलब यह नहीं कि यह अँग्रेज़ी सीख जाने की वजह से है। माली हालात बदलने की सियासी वजहें होती हैं।

भाषा, पहचान का संकट और हिंसा की सियासत

अँग्रेज़ी सीखना एक बात है और अँग्रेज़ी को अपनाना कुछ और बात है। आज सत्ता और सुविधाओं से विपन्न हर कोई अँग्रेज़ी अपनाना चाहता है; इससे जो पहचान के बदलाव का संकट सामने आ रहा है, वह भयंकर है। भारत में उभरते फासीवाद और इस संकट का घना रिश्ता है। या यूँ कहें कि उभरते फासीवाद की एक वजह यह पहचान का संकट है। एक भाषा से करीब की किसी भाषा तक जाना परम्परा, जीवन-दृष्टि, संस्कृति, इतिहास में करीब के दायरे में सफर करना है।

जब अपनी ज़बान से हटकर किसी दूर की ज़बान तक का सफर करना हो तो वह परम्परा, जीवन-दृष्टि, संस्कृति, इतिहास का लम्बा सफर होता है, यानी ज़हन में पहले से कहीं ज़्यादा दूरी की 'छवियाँ' बनानी पड़ती हैं। पेगी का तर्क यह है कि निरन्तरता की वजह से यह सफर इतना लम्बा नहीं रह जाता। यह बहस का मुद्दा है। चेतना के विज्ञान की समझ आज भी इतनी आगे नहीं पहुँची कि इस पर कोई साफ नज़रिया रखा जा सके। भाषा-विज्ञानियों से लेकर आर्टीफीशियल इंटेलिजेंस के शोधकर्ताओं तक ज़्यादातर लोग यह मानते हैं कि भाषा का रूहानी वजूद के साथ गहरा रिश्ता होता है। इसीलिए बहस महज़ माली हालात और भौतिक वजूद पर ही नहीं, बल्कि संज्ञान के स्तर पर होनी चाहिए।

सचेत बौद्धिकों को अपने सवालों के दायरे को सतही स्तर से आगे ले जाकर सर्वांगीण ढंग से सोचना चाहिए। यूरोप में आधुनिकता की

शुरुआत पुनर्जागरण से हुई। उस दौरान धर्म, फलसफा और भाषा, हर खित्ते पर, बुनियाद पर चोट पड़ी। आधुनिकता महज़ मॉडर्न साइंस और टेक्नोलॉजी का आना नहीं है। हमारे यहाँ सदियों तक पुनर्जागरण जैसा सामाजिक आन्दोलन चलता रहा है, जो दक्षिण में बासवन्ना के वचन, उत्तर में फरीद की वाणी से लेकर ज्ञानेश्वर, कबीर, तुकाराम, रविदास, नानक और लालन फकीर तक का लम्बा दायरा है। अँग्रेज़ी और संस्कृत के हमलों से हमारे इतिहास के इस बड़े हिस्से को भुलाने की कोशिश है। क्या हमें यह सवाल पूछना नहीं चाहिए कि क्या भविष्य में हम इन भक्तों, फकीरों को अँग्रेज़ी में पढ़ेंगे? कोक स्टूडियो और जश्ने-रेखता जैसे आयोजनों में संगीत सुनते अँग्रेज़ीवालों को यह बात शायद ही समझ आए कि खुसरो और सूफी, निरगुन और सगुन, यह सब सुनकर झूमना एक बात है और गीतों के बोल को जीना कुछ और ही है। वैसे अँग्रेज़ी में पढ़ा जाए तो आपत्ति नहीं होनी चाहिए, पर क्या यह वाकई मुमकिन है कि हम इन्हें अँग्रेज़ी में पढ़-समझ सकते हैं? हिन्दुस्तानी ज़बानों को खोकर सूफी संगीत को सुनना उसके चेतन पहलुओं के बगैर सुनना है, जैसे कोरोना का रोगी कुछ खाते-पीते हुए स्वाद और गन्ध के एहसास खो देता है। क्या जीवन्त सांस्कृतिक विरासत को दरकिनार कर हम दक्षिण एशिया के नॉन-एलीट वर्गों के जीवन पर बात कर सकते हैं? पिछली सदी को ही लिया जाए तो बांग्ला में रवीन्द्र संगीत की मिसाल ली जा सकती है। अब तक कई हिन्दुस्तानी ज़बानों में इन गीतों के अनुवाद हो चुके हैं। नामी गायकों ने इन्हें अलग ज़बानों में गाया है। पर बांग्ला की कुछ खासियत है कि जहाँ बांग्लाभाषी इन गीतों को सुनकर रूहानी सुकून से सराबोर होते हैं, तरजुमे के बाद दूसरी ज़बानों में ये वैसा असर नहीं छोड़ते। अगर एक-जैसी विरासत वाली ज़बानों में ही महज़ एक सदी पुरानी सामग्री का प्रभावी अनुवाद नहीं हो सकता है तो अँग्रेज़ी की क्या बिसात!

परिवेश (संस्कृति, इतिहास, रस्मो-रिवाज़) के साथ वजूद का कैसा पेचीदा रिश्ता है, इसे समझे बिना हम कैसे महज़ माली या दूसरी वजहों से हो रहे भाषाई बदलाव के पक्ष-विपक्ष में खड़े हो सकते हैं? जिन भी वजहों से भाषाई बदलाव हो रहे हों, हमारा विवेक हमें किन चिन्ताओं की ओर ले जाता है? पेगी के पर्चे पर न सही, हम खुद से ये सवाल ज़रूर कर सकते हैं। महज़ माली हालात में बदलाव की वजह से ज़बरन हो रही बातों को ही कुदरती बदलाव मान लेना एक तरह की पक्षधरता है, जिस पर सवाल उठना चाहिए। यहाँ मुक्तिबोध की प्रसिद्ध पंक्ति 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' याद करनी चाहिए या पीट सीगर और दूसरे लोक-गायकों द्वारा गाए फ्लोरेंस रीस के लोकप्रिय गीत 'Which side are you on?' को याद करना चाहिए। यह महज़ रूमानी खयाल नहीं है। मानव-इतिहास में ऐसे दौर आते रहते हैं, जब यह सवाल पूछना ज़रूरी हो जाता है। एलीट वर्ग ने अँग्रेज़ी को सत्ता और ताकत की ज़बान बना रखा है, ब्राह्मणवादियों ने बनावटी संस्कृत का झण्डा उठाया हुआ है। आम इन्सान मजबूरी में पिसता बच्चों को अँग्रेज़ी की ओर धकेल रहा है। करोड़ों में से कुछ सौ लोग इस धक्कम-पेल में वाकई आगे बढ़ जाएँगे, बाकी लोगों की ज़िन्दगी उसी गड्ढे में फँसी रहेगी, जहाँ वे पहले से हैं। ये 'नाकामयाब' लोग, जिन्हें आगे बढ़ गए कुछ लोग 'losers' कहकर बचना चाहेंगे, क्या हम उन्हें इन्सान मानना छोड़ दें? यह कैसी पहचान का संकट है - महज़ माली पहचान या कहीं ज़्यादा भयानक और भयंकर? यह सोचना लाज़मी है।

पेगी अपनी बात पर वज़न डालने के लिए अब तक चली आ रही रिवायत की बात कहती हैं - माँ-बाप ने बच्चों के भले की खातिर कुर्बानियाँ दी हैं और ऐसा ही आज हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। दुनिया में बहुत कुछ सही-गलत हो रहा है। जो हो रहा है, उसे ही सही मान लिया तो कैसा इल्म और कैसा आलिम? सिर्फ इसलिए कि शहरों में लोगों (और गाँवों में भी एक अच्छी तादाद में) को लगता है कि अँग्रेज़ी उनकी तरक्की की चाबी है, हम मान लें कि उनकी यह समझ सही है और ऐसा ही होना चाहिए? लोगों की ही सुनी जाए तो सौ साल पहले जर्मनी में हिटलर का सत्ता में आना और आज हमारे मुल्क में बढ़ती साम्प्रदायिक नफरत को ठीक मान लेना पड़ेगा। इसका मतलब यह कतई नहीं कि लोगों में दिखती प्रवृत्ति के उलट हम कुछ भी कहें तो वही ठीक होगा, पर हमें संज्ञान के स्तर पर सही सवाल उठाने होंगे। अगर मादरी ज़बान में पढ़ना-लिखना और काम-काज हरेक के हित में है, तो हमें उसके लिए संघर्ष करना होगा और सरकारों को

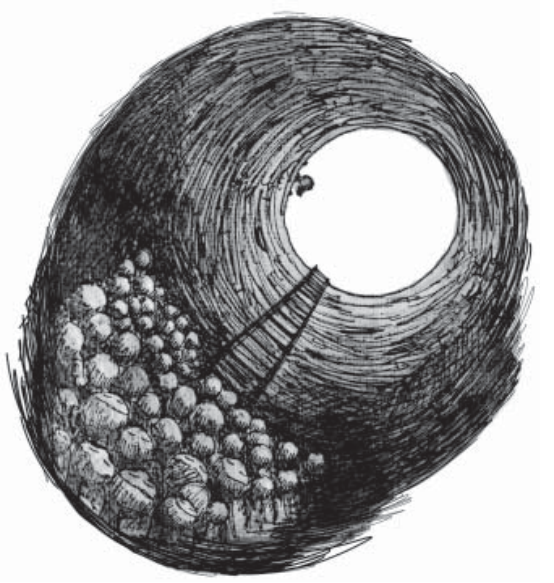

मजबूर करना होगा कि हम इसके लिए संसाधनों का निवेश करें। कोई कह सकता है कि समाज-विज्ञान में अध्ययन का काम सही-गलत की पहचान नहीं, बल्कि जो है उसे सामने लाना है। क्या सचमुच निष्पक्ष शोध नामक कोई चीज़ होती है? अब तो यह भी माना जाता है कि निष्पक्षता का सबसे ज़्यादा शोर जहाँ है, उस विज्ञान नामक हरकत में भी पूर्वाग्रहों से बच पाना मुश्किल है। कम-से-कम यह तो पड़ताल करनी ही पड़ेगी कि भाषा के मुद्दे पर हम जो कहते हैं, उसका फायदा किसे है।

पेगी ने मध्य-वर्ग के परिवारों के बच्चों में अँग्रेज़ी के बढ़ते इस्तेमाल का सही आकलन किया है। पर उनकी टिप्पणी यहीं तक सीमित है कि इससे उनकी पहचान में बदलाव आ रहा है। आखिर में वे इसे 'बहुत पाया और कुछ खोया' कहती हैं। यह बात अमेरिका के काले लोगों और दक्षिण अमेरिका के मूल निवासियों जैसे समुदायों में से उन लोगों से पूछी जाए, जिन्होंने अपने लोगों के हितों को सामने रखकर आजीवन संघर्ष किया है, तो वे इसे खोया - सब कुछ खोया, कहेंगे। डुबोएस 95 साल की उम्र में अफ्रीका के मुल्क घाना में मरते हैं, जबकि अमेरिका में उनका जीवन कहीं अधिक सुकून भरा हो सकता था। माली तरक्की को ही ज़िन्दगी का मकसद मानने वाले यह बात नहीं समझ पाएँगे।

लब्बोलुबाब यह कि पेगी ने ज़बान को सामाजिक-आर्थिक मुद्दा माना है, पर वे इससे आगे चेतना और संज्ञान के साथ भाषा को नहीं जोड़ पातीं। यह उनके विश्लेषण की बड़ी सीमा है। उनकी यह समझ भी बहस माँगती है कि अँग्रेज़ी जान लेने की वजह से पिछड़े तबके के लोगों के साथ भेदभाव करना मुश्किल हो जाएगा। ऐसा होता तो बगैर कोई जुर्म साबित हुए सालों से कैद काट रहे

उमर खालिद, सुधा भारद्वाज, गौतम नवलखा जैसे अँग्रेज़ी में पारंगत ऊपरी तबके के लोगों के समर्थन में जन-सैलाब दिखाई देता, पिछड़ों की तो क्या कहें। सामाजिक बदलाव अँग्रेज़ीदाँ लोगों की करुणा से नहीं, फरीद-बासक्ना-ज्ञानेश्वर-कबीर-रविदास -तुकाराम-नानक-लालन के संघर्षों से होते हैं।

यह सही है कि अपने मौजूदा रूप में हिन्दी ज़्यादा देर तक नहीं रहेगी। पर तमिल, बांग्ला, मलयालम, पंजाबी, तेलंगाना की तेलुगु आदि ज़बानों के लिए यह बात कहना मुश्किल है। वहीं, पेगी की इस बात के बारे में संजीदगी से सोचना ज़रूरी है कि अगर एलीट वर्ग व्यावहारिक खित्तों में अँग्रेज़ी का वर्चस्व बढ़ाते रहने में कामयाब होता है तो भारतीय भाषाओं की हैसियत कितनी रह जाएगी।

इसमें कोई शक नहीं कि ज़िन्दा ज़बानें बदलती रहती हैं। कुदरती तौर पर, नई टेक्नोलॉजी की वजह से अँग्रेज़ी और दीगर कई ज़बानों के अल्फाज़ हमारी भाषाओं में आए हैं - आने ही चाहिए। अँग्रेज़ी में भी हिन्दुस्तानी समेत दुनिया की दीगर ज़बानों से अल्फाज़ शामिल हुए हैं। पर महज़ सम्पन्न लोगों के निहित स्वार्थों के लिए ज़बरन पूरी-की-पूरी ज़बान बदली जाए तो क्या हमें आँख मूँदकर इसे मान लेना चाहिए?

तो अँग्रेज़ी नहीं तो भारत का भाषाई भविष्य क्या है? क्या हिन्दी भारत का भविष्य है? नहीं, ऐसी तवक्को भी नहीं होनी चाहिए। यह सचमुच अजीब है कि दुनिया के इतिहास की तमाम उथलपुथल को देखते हुए भी लोग भविष्यवाणियाँ करने की गलती करते हैं। दो सौ साल पहले रूस में फ्रांसीसी ज़बान में महारत बुद्धिजीवी होने की पहचान थी। आज वहाँ इक्के-दुक्के ही फ्रांसीसी भाषा बोलते होंगे। भारत की आज़ादी के नब्बे साल पहले भी कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि दक्षिण एशिया में एक विशाल मुल्क हो सकता है। ऐन आज़ादी के वक्त भी रजवाड़े अलग-अलग मुल्क बनाना चाहते थे। आज़ादी के कुछ वक्त पहले तक पाकिस्तान महज़ एक सियासी दाँव भर था। पाकिस्तान बनने के पच्चीस सालों में ही बांग्लादेश अलग हो गया। इसलिए निश्चित भविष्यवाणियाँ न कर हमें यह सोचना चाहिए कि भविष्य में कैसी सम्भावनाएँ हैं और उनमें से किस सम्भावना के पक्ष में हम खड़े हों। किसी एक सम्भावना को ही निश्चित कह देना एक फतवा है। ऐसे फतवों से बचना चाहिए और इनके खिलाफ संघर्ष भी करना चाहिए।

सम्भावनाएँ और हम किस ओर खड़े?

तो कैसी सम्भावनाएँ दिखती हैं? बेशक एलीट वर्गों और पूँजीवादी हितों के अनुकूल अँग्रेज़ी एक भविष्य

है। दूसरी सम्भावनाएँ इन्सान के साथ खड़े होने की हैं। यह मुमकिन है कि हम अपनी बहुभाषी राष्ट्रीयता को पहचान लें और संकीर्ण सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बरक्स अपनी बहुलता और विविधता का जश्न मनाना सही मानें। टेक्नोलॉजी की मदद से सैकड़ों भाषाओं में पढ़ने-लिखने की सामग्री तैयार करें। हर बच्चे को मौका दें कि वह अपनी ज़बान में पढ़-लिख कर भरा-पूरा इन्सान बने। जिन्हें अँग्रेज़ी सीखनी है, जो कुछ लोग साइंस और टेक्नोलॉजी या अन्य विषयों में काम करना चाहते हैं, जो व्यापार या अन्य कारणों से दुनिया के चक्कर लगाना चाहते हैं, वे चाहें तो अँग्रेज़ी सीखें या टेक्नोलॉजी की मदद से अँग्रेज़ी से राफ्ता बना लें (चीन-जापान जैसे मुल्कों में भाषाओं में तुरत-फुरत अनुवाद करने की मोबाइल फोन जैसी मशीनें दशकों पहले आ चुकी हैं)। हर किसी को साइंस और टेक्नोलॉजी या बहुराष्ट्रीय व्यापार नहीं करना है, जिसे करना है अपनी पसन्द से करना है। हर तरह के श्रम की कीमत है, और इसे हमें पहचानना है। यह महज़ तसव्वुर और सपना नहीं है, और हो भी तो क्या? अपने विवेक से पूछें कि आप किस ओर खड़े हैं। पेगी के लेख के आखिरी वाक्य - 'You lose some, but you gain much more' - पर बार-बार सवाल उठाएँ - वाकई? अँग्रेज़ी के ज़रिए मध्य-वर्ग में शामिल होना ज़िन्दगी में बहुत कुछ पा लेना है? जो खोया, वह क्या सचमुच 'some' यानी थोड़ा-सा कुछ ही है? क्या माली वजूद ही जीने का मकसद है? पूँजीवाद या ब्राह्मणवादी नफरत की सियासत की चक्की में घुन बनकर पिसना ही माली तरक्की का एकमात्र रास्ता नहीं है, बराबरी और इन्साफ जैसे लफ्ज़ अभी हमारी ज़बानों में मौजूद हैं - अँग्रेज़ी में भी। सदियों बाद इतिहास में हमें कैसे पढ़ा जाएगा - माटी के साथ खड़े या ज़ुल्म के साथ खड़े बौद्धिक – यह हमें आज तय करना है।

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': सेंटर फॉर कम्प्यूटेशनल नेचुरल साइंस एंड बायोइन्फॉर्मेटिक्स, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद में प्रोफेसर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू यॉर्क, यूएसए से पीएच.डी.। सन् 1987-88 में *एकलव्य* के साथ यूजीसी द्वारा स्पेशल टीचर फैलोशिप पर हरदा में रहे। आप हिन्दी में कविता-कहानियाँ भी लिखते हैं।

सभी चित्र: बंसी: जूनागढ़ की रहने वाली बंसी ने गांधीनगर से दाँतों की शल्य चिकित्सा की पढ़ाई करने के बाद TISS, मुम्बई से प्रारम्भिक शिक्षा में एम.ए. की पढ़ाई की। वह एक चित्रकार बनना चाहती हैं और संवेदनशील और अर्थपूर्ण बाल साहित्य की रचना करना चाहती हैं - खासकर गुजरात की गैर-अधिसूचित और 'बोली' भाषाओं में। वर्तमान में *एकलव्य*, भोपाल के बाल साहित्य समूह के साथ जुड़ी हैं।

भूखा सेप्टोपस

सत्यजीत रे

दरवाज़े की घण्टी फिर बज उठी। मैं झल्ला उठा। दोपहर से ऐसा चौथी बार हुआ था। ऐसे में कोई काम कैसे कर सकता है? कार्तिक भी सुबह से गायब था।

मुझे लिखते-लिखते उठना पड़ा। जैसे ही मैंने दरवाज़ा खोला, सामने कान्ति बाबू नज़र आए। मुझे उनके आने की बिलकुल भी उम्मीद न थी।

"वाह, क्या बात है, आइए, आइए!" मैंने उन्हें घर के अन्दर आमंत्रित करते हुए कहा।

"मुझे पहचाना?"

"हाँ, कुछ-कुछ।"

मैं उन्हें भीतर लाया। बीते दस सालों में उनका हुलिया काफी बदल गया था। उन्हें देखकर कौन यकीन करेगा कि यही शख्स 1950 के दशक में असम के जंगलों में घूमा करता था। जब मैं उनसे मिला था, तब वे करीब 50 साल के रहे होंगे, लेकिन उनका एक बाल तक सफेद नहीं था। उनका उत्साह देखकर तो जवान आदमी भी शर्मा जाए।

"मैं देख रहा हूँ कि ऑर्किड में तुम्हारी दिलचस्पी अब भी बनी हुई है।" कान्ति बाबू ने कहा।

मैंने खिड़की पर एक गमले में ऑर्किड़ रख रखा था। इसे सालों पहले कान्ति बाबू ने ही दिया था, लेकिन अब उसमें मेरी कोई खास दिलचस्पी नहीं बची थी। कान्ति बाबू ने ही मुझमें पौधों के लिए प्यार पैदा किया था। लेकिन उनके विदेश जाते ही पौधों में मेरी रुचि खत्म हो गई थी। दूसरे शौक भी धीरे-धीरे हाशिए पर चले गए। अब केवल एक ही शौक बचा रह गया था - लेखन का।

जैसे ही कान्ति बाबू सोफे पर बैठे, वे काँपने लगे।

"आपको ठण्ड लग रही है? मैं खिड़की बन्द कर देता हूँ। इस बार कलकत्ता में ठण्ड..."

"नहीं, नहीं।" कान्ति बाबू ने मुझे बीच में ही टोकते हुए कहा, "मुझे कभी-कभार कँपकँपी का दौरा उठ जाता है। अब उमर हो चली है। बुढ़ापे में ऐसा होता ही है।"

कई बातें थीं जिनके बारे में मैं उनसे पूछना चाहता था। इतने में कार्तिक भी आ गया था। मैंने उससे चाय बनाकर लाने को कहा।

"मुझे अचानक तुम्हारा एक उपन्यास देखने का मौका मिला। तुम्हारे प्रकाशक ने ही मुझे तुम्हारा पता दिया है। दरअसल, मेरे यहाँ आने के पीछे एक खास मकसद है।" कान्ति बाबू ने कहा।

"बताइए, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ? लेकिन पहले यह बताइए कि इतने साल तक आप कहाँ थे और इंडिया कब लौटे?"

"मैं अमेरिका में था। दो साल पहले ही यहाँ आया हूँ। इन दिनों मैं बारासात में रह रहा हूँ।"

"बारासात?"

"मैंने वहाँ एक मकान भी खरीद लिया है।"

"क्या उसमें बगीचा है?"

"हाँ।"

"और ग्रीनहाउस भी?"

इससे पहले कान्ति बाबू जिस मकान में रहा करते थे, उसमें एक शानदार ग्रीनहाउस बना हुआ था। उसमें दुर्लभ पौधों का क्या संग्रह था। 60-65 प्रकार के तो ऑर्किड ही थे। कोई भी उन पौधों के साथ दिनभर बिता सकता था।

कान्ति बाबू पल भर को रुके और फिर बोले, "हाँ, ग्रीनहाउस भी है।"

"यानी पेड़-पौधों में आपकी दिलचस्पी अब तक है?"

"हाँ।"

वे कमरे की एक दीवार को घूरे जा रहे थे। मैंने अपनी नज़रें वहीं घुमा दीं। वहाँ रॉयल बंगाल टाइगर की खाल लटक रही थी।

"पहचाना इसे?" मैंने पूछा।

"यह तो वही है, है ना?"

"हाँ, बिलकुल, उसके कान के पास छेद देख रहे हैं?"

"क्या निशाना था तुम्हारा! क्या वो अब भी उतना ही सटीक है?"

"पता नहीं, शिकार छोड़े सालों हो गए हैं।"

"क्यों?"

"मैं बहुत जानवर मार चुका हूँ। अब मुझे यह अच्छा नहीं लगता।"

"यानी तुमने मांस खाना भी छोड़ दिया?" कान्ति बाबू ने शायद व्यंग्य में पूछा।

"नहीं।"

"तो फिर? अगर किसी शेर को मारकर उसकी खाल से अपने घर को सजाना खराब बात है तो किसी बकरे या मुर्गी का मांस खाना क्या अच्छी बात है?"

तब तक कार्तिक चाय लेकर आ गया था। मैंने चाय की चुस्कियों के साथ कहा, "तो फिर शाकाहारी होना शायद बेहतर होगा।"

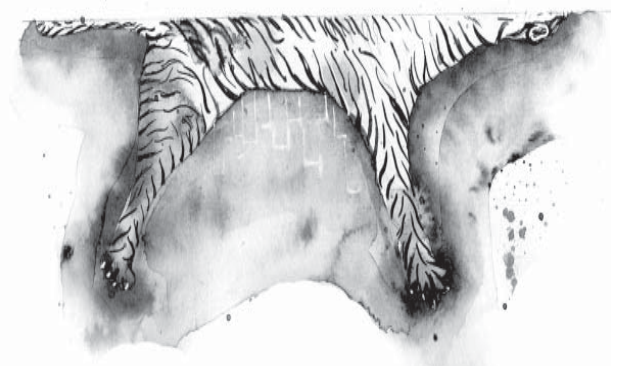

"ऐसा कौन कहता है? क्या तुम सोचते हो कि पत्तियों व सब्ज़ियों में जीवन नहीं होता?"

"हाँ, उनमें जीवन होता है, लेकिन वैसा नहीं जैसा जीव-जन्तुओं में होता है। पेड़-पौधे और जन्तु एक-जैसे नहीं हो सकते।"

"तो तुम्हें लगता है कि ये दोनों एकदम अलग-अलग होते हैं?"

"तो क्या नहीं होते? उनमें अन्तर तो साफ नज़र आता है। पेड़-पौधे चल नहीं सकते, अपनी भावनाएँ व्यक्त नहीं कर सकते। आप भी शायद मेरी इस बात से सहमत होंगे?"

कान्ति बाबू कुछ कहना चाहते थे, लेकिन फिर रुक गए। उन्होंने चाय की अन्तिम चुस्की ली और फिर मेरी तरफ तीखी निगाहों से देखते हुए धीरे-से बोले, "परिमल, मैं यहाँ से 21 किलोमीटर दूर रहता हूँ। इस 58 साल की उम्र में भी मैंने तुम्हारा पता ढूँढ़ने के लिए इतनी मशक्कत की। तुम शायद समझते ही होगे कि बगैर किसी खास मकसद के तो मैं इतनी माथा-पच्ची करता नहीं।"

मैं झेंप गया। कान्ति बाबू की बात एकदम सही थी।

वे आगे बोले, "परिमल, मुझे तुम्हारी मदद की ज़रूरत है।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्हें मेरी ऐसी क्या ज़रूरत पड़ गई!!

"तुम्हारी बन्दूक अब भी तुम्हारे पास है या उसे ठिकाने लगा चुके हो?"

मैंने अचरज से कहा, "हाँ है, लेकिन उसमें जंग लग गई होगी।"

"क्या तुम उसे लेकर कल मेरे घर आ सकते हो?"

मैंने ध्यान से उनके चेहरे को देखा। वे वाकई गम्भीर थे।

"और हाँ, गोलियाँ भी साथ लेते आना।"

"ज़रूर, लेकिन आपको इसकी क्या ज़रूरत पड़ गई? क्या आपके घर के आस-पास जंगली जानवर हैं या चोर-लुटेरों का आतंक है?"

"जब तुम मेरे घर आओगे तो तुम्हें सब कुछ बता दूँगा।"

कान्ति बाबू ने अपने घर का पता बताते हुए पूछा, "तुम्हारे पास कार तो होगी?"

"मेरे पास तो नहीं है, लेकिन मेरे एक दोस्त के पास है।"

"कौन दोस्त?"

"उसका नाम अभिजीत है। वह मेरे साथ कॉलेज में था।"

"कैसा आदमी है? क्या मैं उसे जानता हूँ?"

"शायद नहीं, लेकिन आप उस पर भरोसा कर सकते हैं।"

"ठीक है, तो उसे भी साथ लेते आना, लेकिन सूर्यास्त के पहले ज़रूर आ जाना।" इतना कहकर कान्ति बाबू घर से निकल गए।

* * *

मैंने सारी बात अभिजीत को बताई।

"चलो, वैसे भी हमें कहीं बाहर गए एक लम्बा अर्सा हो गया है, लेकिन यह तो बताओ, आखिर यह आदमी है कौन और क्या चाहता है?" अभिजीत बोला।

"भई, यह तो मुझे भी नहीं पता कि उनका मकसद क्या है।"

"फिर यह तो बता दो कि वे हैं कौन?"

"कान्ति चरण चटर्जी। किसी समय वे स्कॉटिश चर्च कॉलेज में वनस्पतिशास्त्र के प्रोफेसर हुआ करते थे। फिर उन्होंने अध्यापन छोड़ दिया और जगह-जगह घूमकर दुर्लभ प्रजातियों के पौधों की तलाश में जुट गए। उन्होंने कई अनुसन्धान किए हैं और उन पर अनेक शोध-पत्र भी छप चुके हैं।"

"उनसे तुम्हारी मुलाकात कहाँ हुई?"

"असम के काज़ीरंगा में। मैं वहाँ बाघ के शिकार की उम्मीद में गया था। वे तब नेपेंथस की तलाश में थे।"

"नेपेंथस? यह भला क्या बला है?"

"यह एक पौधे का बॉटेनिकल नाम है। सुराही के आकार का यह पौधा असम के जंगलों में पाया जाता है और कीट-पतंगों पर जीता है।"

"कीट-पतंगे खाने वाला पौधा? ऐसा कैसे हो सकता है?"

"लगता है तुमने वनस्पतिशास्त्र बिलकुल नहीं पढ़ा है।"

"हाँ, कभी नहीं।"

"खैर, काज़ीरंगा से लौटकर उनसे एक-दो बार मुलाकात हुई। फिर वे अमेरिका चले गए। तब से आज ही मेरी उनसे मुलाकात हुई।"

"इतने साल वे क्या करते रहे?"

"मुझे नहीं मालूम, लेकिन कल शायद पता चल जाएगा।"

* * *

अगले दिन हम कान्ति बाबू के घर की ओर रवाना हुए। मेरे और अभिजीत के अलावा उसका कुत्ता बादशाह भी हमारे साथ था। बादशाह रामपुर प्रजाति का भूरा कुत्ता था, इतना बड़ा और भारी कि कार की पिछली सीट पर बस वही बैठा हुआ था। और खिड़की से हरे-भरे खेतों को निहार रहा था।

मैं बादशाह को साथ ले जाने के पक्ष में नहीं था, लेकिन अभिजीत ने मेरे सुझाव का विरोध किया, "मुझे

अब तुम्हारे निशाने पर भरोसा नहीं रहा है। तुमने सालों से अपनी राइफल को छुआ तक नहीं है। ऐसे में अगर कोई खतरा होता है तो बादशाह काम आएगा। वैसे तुम भी जानते हो कि वह कितना बहादुर है।"

कान्ति बाबू का घर ढूँढ़ने में हमें ज़्यादा परेशानी नहीं हुई। हम दोपहर ढाई बजे उनके घर पहुँच गए। कान्ति बाबू ने हमारा स्वागत किया, लेकिन बादशाह को लाना शायद उन्हें पसन्द नहीं आया।

"क्या यह प्रशिक्षित कुत्ता है?" उन्होंने अभिजीत से पूछा।

"हाँ, यह मेरा कहा मानता है, लेकिन दूसरे कुत्तों को देखकर यह शायद भड़क जाए। क्या आपके पास कोई कुत्ता है?"

"नहीं, लेकिन कृपया इसे बैठक कक्ष की खिड़की से बाँध दीजिए।"

अभिजीत ने मेरी ओर कनखियों से देखा और फिर वही किया जो कान्ति बाबू चाहते थे। बादशाह ने इसका हलका-सा विरोध किया, लेकिन परिस्थिति को समझकर चुप हो गया।

हम बरामदे में कुर्सियों पर आराम-से बैठ गए। मैं समझ नहीं पा रहा था कि इतनी शान्त व मनोहारी जगह पर भला क्या खतरा हो सकता है। इस शान्ति में आवाज़ कहीं आ रही थी तो बस पक्षियों के कलरव की, लेकिन वह भी कानों में मिश्री घोल रहा था। मुझे राइफल उठाकर लाना और उसे एक दीवार से टिकाकर रखना बड़ा ही मूर्खतापूर्ण लगा।

अभिजीत मूलतः शहरी व्यक्ति है। और वह बहुत देर तक चुप नहीं बैठ सकता। वह बेचैनी महसूस करने लगा और बोल उठा, "परिमल ने बताया था कि एक बार आप असम के जंगलों में कुछ विशेष प्रजाति के पौधे तलाश रहे थे कि बाघ ने आप पर हमला कर दिया। और आप बाल-बाल बच गए थे।"

अभि को अपनी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की आदत है। मुझे लगा कि इस बात से कहीं कान्ति बाबू नाराज़ न हो जाएँ, लेकिन उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "तुम्हारी नज़र में जंगल में खतरा मतलब शेर या बाघ, लेकिन मेरा आज तक किसी शेर से आमना-सामना नहीं हुआ। बस एक बार एक जोंक ने ज़रूर काटा था। उससे ज़्यादा कुछ नहीं।"

"तो आपको अपना पौधा मिला या नहीं?"

"कौन-सा पौधा?"

"वही सुराहीदार या जो भी आप कहते हैं।"

"ओ, तुम्हारा मतलब नेपेंथस, बिलकुल। वह मेरे पास है। तुम्हें ज़रूर दिखाऊँगा। उस मांसभक्षी पौधे को छोड़कर मैंने अब अन्य पौधों में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया है।"

फिर वे अन्दर चले गए। हम दोनों यह सोचकर एक-दूसरे का मुँह

ताकते रहे कि भला मांस खाने वाला पौधा! इतनी देर में कान्ति बाबू वापस लौटे। उनके हाथ में एक बोतल थी जो टिड्डों, गुबरेलों और कई प्रकार के कीट-पतंगों से भरी हुई थी। हवा जाने के लिए बोतल के कॉर्क में एक छेद बना हुआ था।

"खाने का समय हो गया है, आओ मेरे साथ," कान्ति बाबू इतना बोलकर अपने बंगले के एक कोने में बने टीन शेड की ओर चल दिए। हम भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। वहाँ काँच के बरतन में किस्म-किस्म के पौधे थे। हर पौधा अपने आप में अनूठा था। वैसे पौधे मैंने आज से पहले कभी नहीं देखे थे।

"इनमें नेपेंथस को छोड़कर कोई भी पौधा हमारे देश में नहीं पाया जाता। यह नेपाल का है और यह अफ्रीका का। बाकी सभी मैंने मध्य अमेरिका से हासिल किए हैं।"

अभिजीत यह सोचकर हैरत में था कि आखिर हमारी मिट्टी में ये पौधे ज़िन्दा कैसे रह जाते हैं।

"इनका मिट्टी से कोई लेना-देना नहीं है।" कान्ति बाबू बोले।"

"कैसे?"

"उन्हें पोषण मिट्टी से नहीं मिलता। जैसे हम मनुष्य खाने पर ज़िन्दा रहते हैं, वैसे ही ये पौधे भी कहीं भी रह सकते हैं, बस उन्हें सही भोजन मिलता रहे।"

कान्ति बाबू एक बरतन के पास रुक गए। उसमें एक अजीब तरह का पौधा था जिसकी दो इंच लम्बी हरी पत्तियों पर सफेद रंग के दाँते बने हुए थे। उस काँच के बरतन में बोतल के मुँह के आकार का एक गोल दरवाज़ा भी बना हुआ था। कान्ति बाबू ने वह छोटा-सा गोल दरवाज़ा खोला और झट बोतल से कॉर्क हटाकर उसे काँच के बरतन के छेद से सटा दिया। जैसे ही एक कीड़ा बोतल से बाहर निकला, कान्ति बाबू ने तुरन्त बोतल हटाकर वह दरवाज़ा बन्द कर दिया। वह कीड़ा उड़कर एक पत्ती

पर बैठ गया। पत्ती ने तुरन्त अपने आप को मोड़कर उस कीड़े को दबा लिया। अब कीड़ा उसकी ऐसी गिरफ्त में था कि उसके लिए बच निकलना असम्भव था।

अचरज के साथ अभि बोला, "लेकिन क्या कोई कीड़ा हमेशा पत्ती पर बैठेगा ही?"

"बिलकुल, ये ऐसी गन्ध छोड़ते हैं जिससे आकर्षित होकर कीट-पतंगे उड़कर उनकी पत्तियों पर बैठ जाते हैं।"

मैं उस पौधे को मुग्धभाव से देखे जा रहा था। वह एक ऐसी छिपकली से कम नज़र नहीं आ रहा था जिसने अपने शिकार को जकड़ रखा हो।

अगले काँच के बरतन में रखे पौधे की लम्बी-लम्बी पत्तियाँ थीं और हर पत्ती से एक थैली के आकार की कोई चीज़ लटक रही थी। मैंने इससे पहले उसे केवल चित्रों में देखा था।

"यही नेपेंथस या सुराहीदार पौधा है। इसे बहुत ज़्यादा भूख लगती है। मैंने जब इसे पहली बार पाया था तो उसकी इस थैली में मुझे एक चिड़िया के अवशेष मिले थे।

"अब यहाँ यह क्या खाता है?" अभिजीत ने पूछा।

"तिलचट्टे, तितलियाँ, इल्लियाँ जैसी चीज़ें आराम-से खा लेता है। जब एक बार उसे चूहा दिया गया तो उसे भी हज़म करने में इसने कोई देर नहीं की। लेकिन अधिक खाना इसके लिए घातक हो सकता है। यह बहुत पेटू होता है और अपने खाने की स्वाभाविक सीमा के बारे में शायद जानता ही नहीं।"

हम एक दूसरे बरतन के सामने से गुज़रते हुए उन विचित्र पौधों को आश्चर्य के साथ देखे जा रहे थे। बटरवॉर्ट, सनड्यू, ब्लैडरवॉर्ट इत्यादि को तो इसलिए पहचान गया क्योंकि उन्हें मैंने तस्वीरों में देख रखा था। उनके अलावा भी ऐसे कई पौधे थे जिन्हें मैं पहली बार देख रहा था।

हम टीन शेड से बगीचे में आ गए। तब तक शाम के चार बज चुके थे।

"इनमें से कई पौधों के बारे में पहले भी लिखा जा चुका है, लेकिन मेरे संग्रह में एक पौधा ऐसा भी है जो सबसे विचित्र है और उसके बारे में तब तक दुनिया को पता नहीं चलेगा, जब तक कि मैं नहीं बताऊँगा। उसे तुम्हें ज़रूर देखना चाहिए। तब पता चलेगा कि मैंने तुम्हें यहाँ क्यों बुलाया है।" कान्ति बाबू इतना कहकर एक दूसरे टीन शेड की ओर बढ़ चले। हम भी उनके पीछे-पीछे चले। वह शेड किसी फैक्ट्री की तरह नज़र आ रहा था। उसमें एक दरवाज़े के आजू-बाजू में दो खिड़कियाँ बनी हुई थीं। दरवाज़े पर ताला लटका था। कान्ति बाबू ने एक खिड़की को खोलकर भीतर झाँका। फिर हमसे भी ऐसा ही करने को कहा। मैंने और अभि ने वैसा ही किया।

कमरे की पश्चिमी दीवार से सटे एक काँच के बरतन में मद्धिम प्रकाश में कुछ नज़र तो आ रहा था, लेकिन वह कोई पौधा कम, एक विशालकाय, विचित्र-सा जानवर ज़्यादा लग रहा था। उसका तना करीब आठ फीट ऊँचा था। मोटी-मोटी शाखाएँ किसी जानवर के सिर पर लगे एंटिना जैसी दिखाई दे रही थीं। ऐसी कुल सात शाखाएँ थीं। अचानक मेरी नज़र ज़मीन पर पड़ी। मेरे शरीर में झुरझुरी-सी दौड़ गई। ज़मीन पर जगह-जगह मुर्गियों के पंख छितरे पड़े थे।

मुझे नहीं पता कि हम कितनी देर तक यूँ ही हक्के-बक्के खड़े रहे। तभी कान्ति बाबू ने हमारी समाधि तोड़ी,

"यह पेड़ अभी नींद में है, लेकिन अब इसके उठने का समय हो गया है।"

अभिजीत को भरोसा नहीं हो रहा था कि यह कोई पेड़ ही है। इस पर कान्ति बाबू ने कहा, "चूँकि यह ज़मीन से उगा है, इसलिए इसे पेड़ नहीं तो और क्या कहेंगे! लेकिन यह भी सच है कि इसका बर्ताव किसी पेड़ जैसा बिलकुल नहीं है। इसके लिए शब्दकोष में भी कोई शब्द नहीं है।"

"तो फिर आप इसे किस नाम से पुकारते हैं?"

"सेप्टोपस।"

हम वापस बगीचे की ओर चल दिए। मैंने उनसे पूछा कि उन्हें यह विचित्र पौधा कहाँ मिला।

"मध्य अमेरिका में निकारागुआ झील के पास फैले घने जंगलों में।" कान्ति बाबू ने बताया।

"आपने इसे कैसे हासिल किया?"

"मुझे यह तो पता था कि यह उस इलाके में होता है। इसलिए मैं सबसे पहले निकारागुआ गया। वहाँ से आगे ग्वाटेमाला की तरफ जाने पर स्थानीय लोगों के मुँह से इस पेड़ के बारे में सुना। वे उसे शैतान का वृक्ष कहते थे। ढूँढ़ने पर मुझे ऐसे कुछ वृक्ष मिल गए। तुम विश्वास नहीं करोगे, मैंने उन्हें बन्दर तक खाते देखा है। काफी ढूँढ़ने के बाद मुझे उसी प्रजाति का एक इतना छोटा पौधा मिल गया जिसे मैं साथ ला सकता था। देखो, अब वो कितना बड़ा हो गया है।"

"यह खाता क्या है?"

"कुछ भी दो, हज़म कर जाता है। इसे रोज़ाना दो मुर्गियाँ या एक छोटी बकरी देनी पड़ती है, लेकिन मुझे लगता है कि अब इसकी भूख बढ़ती जा रही है। कल तो गज़ब हो जाता। मेरा नौकर प्रयाग उसे रोज़ की तरह मुर्गियाँ खिला रहा था और मैं अपने कमरे में बैठा किताब के लिए कुछ लिख रहा था। अचानक मैंने प्रयाग की चीख सुनी। मैं तुरन्त दौड़कर वहाँ पहुँचा। क्या भयानक दृश्य मेरी आँखों के सामने था! सेप्टोपस की एक शाखा ने प्रयाग के दाहिने हाथ को बुरी तरह से जकड़ रखा था। दूसरी शाखा उसकी ओर ललचाती हुई बढ़ रही थी।"

"मैंने झट-से अपनी छड़ी सेप्टोपस की शाख पर दे मारी और प्रयाग को दोनों हाथों से खींचकर बचा लिया। अब चिन्ता की बात यह है कि वह प्रयाग के मांस का एक टुकड़ा मेरी आँखों के सामने गटक चुका है।"

हम फिर से बरामदे में पहुँचे। कान्ति बाबू रुमाल से पसीना पोंछते हुए बोले, "कल की घटना के बाद सेप्टोपस को मनुष्य के मांस का भी स्वाद लग गया है। ऐसे में मुझे लगता है कि अब मेरे पास उसे मारने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचा है। मैंने उसे ज़हर देकर मारने की कोशिश की थी, लेकिन वह चालाक निकला। उसने शाख से छूकर ही खाने को दूर फेंक दिया। अब उसे

बन्दूक की गोली से ही मारा जा सकता है। तो परिमल, अब तुम समझ ही गए होगे कि मैंने तुम्हें किसलिए बुलाया था।"

मैंने कुछ देर सोचने के बाद पूछा, "क्या आपको लगता है कि वह गोली से मर सकता है?"

"पता नहीं वह मर पाएगा या नहीं, लेकिन यह तो पक्का है कि उसमें दिमाग है। वह सोच सकता है। मैं उसके पास कई बार जा चुका हूँ, लेकिन उसने मुझ पर आज तक हमला नहीं किया, क्योंकि उसे लगता है कि मैं उसका मालिक हूँ। लेकिन प्रयाग पर उसने हमला इसलिए किया क्योंकि वह उसे अकसर परेशान करता रहा है। भोजन देते समय उसके साथ छेड़खानी करने की उसकी आदत रही है। इसलिए उसमें दिमाग तो है और वह उसके तने के ऊपरी हिस्से पर होना चाहिए। इसलिए तुम्हें वहीं पर निशाना साधना है।"

कुछ देर तक हम इसी उधेड़बुन में बैठे रहे। कान्ति बाबू चाय ले आए थे। जब तक हमने चाय पी, तब तक सेप्टोपस भी जाग चुका था।

* * *

इधर कुछ समय से बादशाह लगातार बेचैन हुआ जा रहा था। अचानक वह ज़ोर-ज़ोर-से भौंकने लगा। मैं और अभि तुरन्त उसके पास पहुँचे कि आखिर मामला क्या है। बादशाह अपनी चेन तुड़ाकर भागने की कोशिश कर रहा था। अभि ने उसे पुचकारकर शान्त करने की कोशिश की। तभी एक अजीब-सी गन्ध हर ओर फैल गई। वह गन्ध उसी टीन शेड से आ रही थी, जिसमें सेप्टोपस बन्द था। कान्ति बाबू तुरन्त हमारे पास आए, सेप्टोपस जाग गया है।

"यह गन्ध कैसी है?" मैंने पूछा।

"सेप्टोपस अपने शिकार को आकर्षित करने के लिए यह गन्ध छोड़ता है..."

कान्ति बाबू अपनी बात खत्म भी नहीं कर पाए थे कि बादशाह चेन तुड़ाकर उस तरफ भाग निकला, जिधर से वह गन्ध आ रही थी।

"सत्यानाश..." कहते हुए अभिजीत बादशाह के पीछे भागा।

मैं भी राइफल लेकर तुरन्त अभिजीत के पीछे भागा। तब तक बादशाह खिड़की से कूदकर अन्दर जा चुका था। कान्ति बाबू भी वहाँ पहुँच चुके थे। हम ताला खोलकर अन्दर पहुँचते तब तक सेप्टोपस बादशाह को अपनी जकड़ में ले चुका था।

"एक भी कदम आगे मत बढ़ना, परिमल शूट करो।" कान्ति बाबू चिल्लाए।

लेकिन इससे पहले कि मैं निशाना साधता, अभिजीत कान्ति बाबू की चेतावनी को अनसुना कर आगे बढ़ चुका था।

उसने सेप्टोपस की शाखाओं से बादशाह को मुक्त करवा लिया था।

अरे, यह क्या! अब सेप्टोपस की शाखाएँ अभिजीत की ओर बढ़ चली थीं। अगले कुछ ही पलों में अभि उनकी जकड़ में था। मानव मांस का चस्का लगने के बाद सेप्टोपस अभिजीत पर ललचा रहा था।

कान्ति बाबू फिर चीखे, "शूट करो, परिमल, शूट करो। उसके सिर पर मारो।"

मैंने सेप्टोपस पर निगाहें टिकाईं। तब तक उसके तने के ऊपरी भाग का ढक्कन खुल चुका था। शाखाएँ अभिजीत को छेद के अन्दर ले जा रही थीं। अभि का चेहरा सफेद पड़ चुका था। आँखें फूल गई थीं।

मैंने शान्त भाव से निशाना साधा और राइफल का घोड़ा दबा दिया। सेप्टोपस के सिर पर बने दो गोल घेरों के ठीक बीच में गोली जा घुसी। निशाना बिलकुल ठीक लगा। खून का फव्वारा बह निकला। शाखाएँ अचानक ढीली पड़ गईं। अभि पर उनकी पकड़ भी ढीली पड़ गई।

इस घटना को हुए चार माह बीत चुके हैं। मैंने अपने अधूरे उपन्यास पर फिर से काम शुरू कर दिया है।

बादशाह को बचाया नहीं जा सका। अभि की भी दो पसलियाँ टूट

गई थीं। दो महीने तक प्लास्टर बँधे रहने के बाद अब वह स्वस्थ है।

कान्ति बाबू कल ही घर आए थे। बता रहे थे कि वे अब सभी मांसाहारी पौधों से मुक्ति पाना चाहते हैं। "अब मैं कुछ घरेलू पौधों पर शोध करना चाहता हूँ। अगर तुम चाहो तो उनमें से कुछ पौधे ले सकते हो। कम-से-कम घर कीट-पतंगों से बचा रहेगा।

"नहीं, धन्यवाद।" मैं बोला। "मुझे कीट-पतंगों से बचने के लिए उनकी ज़रूरत नहीं है। आप उन्हें फेंक सकते हैं।

कैलेंडर के पीछे छिपी छिपकली भी हलकी मुस्कान के साथ शायद यही कह रही थी।

सत्यजीत रे: (2 मई 1921 - 23 अप्रैल 1992): बीसवीं सदी के सिनेमा के महान बांग्ला फिल्म निर्माता-निर्देशक थे। वे उपन्यासकार, प्रकाशक, चित्रकार, ग्राफिक डिज़ाइनर और फिल्म आलोचक भी थे। इनकी पहली फिल्म 'पाथेर पांचाली' (1995) ने ग्यारह अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार जीते थे जिसमें कांस फिल्म महोत्सव का 'सर्वश्रेष्ठ ह्यूमन डॉक्यूमेंट्री' पुरस्कार भी शामिल है।

सभी चित्र: योगेश्वरी: स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं। साथ ही, म्यूरल और पोर्ट्रेट भी बनाती हैं। शारदा उकील स्कूल ऑफ आर्ट से कला में डिप्लोमा। वर्तमान में, अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, दिल्ली से विज़ुअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर कर रही हैं।

खेल खेल में गणित

इस किताब में विभिन्न गतिविधियों द्वारा प्रारम्भिक स्तर पर गणित की अवधारणाओं को समझाने व सुदृढ़ करने के लिए सुझाव दिए गए हैं।

यह कक्षा 1 व 2 के शिक्षकों के लिए एक उम्दा संसाधन सामग्री हो सकती है...

एकलव्य

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें...
पता - एकलव्य फाउंडेशन
जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (मप्र)
फोनः +91 755 297 7770-71-72
वेबसाइटः www.eklavya.in; ईमेलः pitara@eklavya.in

सवालीराम

सवाल: कुकर में कुछ पकाते वक्त डिब्बों के नीचे जाली क्यों रखी जाती है?

- उज्जैन, म.प्र.

जवाब: हमारे रोज़मर्रा के जीवन में प्रेशर कुकर एक आम ज़रूरत बन चुका है। लेकिन क्या आपने सोचा है कि इसका आविष्कार किसने किया और क्यों? तो आइए, जानते हैं प्रेशर कुकर के इतिहास और इसके काम करने की प्रक्रिया को।

सत्रहवीं शताब्दी में एक फ्रांसीसी भौतिकशास्त्री डेनिस पेपिन ने प्रेशर कुकर का आविष्कार किया था और उन्होंने इसे नाम दिया था 'स्टीम डाईजेस्टर'। उन्होंने इसका आविष्कार खाना बनाने में समय की बचत या फिर कहना चाहिए कि तेज़ी-से खाना पकाने के लिए किया था। हालाँकि, ये आम लोगों के घरों तक बीसवीं शताब्दी तक ही पहुँच पाया लेकिन इससे खाना बनाने में काफी लाभ हुए। 1915 में पहली बार इसे 'प्रेशर कुकर' का नाम दिया गया। इसमें खाना जल्दी तो बनता ही है, ईंधन की भी बचत होती है।

अब आते हैं असली सवाल पर, आखिर कुकर में जाली का क्या काम होता है? पहले तो यह बताइए कि क्या आपने कभी डिब्बों के नीचे जाली रखे बगैर कुकर में खाना पकाया है? यदि आपने ऐसी गुस्ताखी की है, तो आपको पता होगा कि जाली न रखने पर क्या होता है।

यह बात हम सब जानते हैं कि कुकर के अन्दर का दबाव बाहर के वायुमण्डलीय दबाव से अधिक होता है जिसके कारण उसके अन्दर पानी का बॉइलिंग पॉइंट 100 डिग्री सेल्सियस से बढ़कर लगभग 115 डिग्री सेल्सियस हो जाता है। पानी उबलता है तो भाप बनती है। खुले बर्तन में पानी उबले तो भाप के छोटे-छोटे बुलबुले बनकर ऊपर आते हैं और फूट जाते हैं। लेकिन कुकर के तल में बने भाप के बुलबुले डिब्बों के नीचे फँस जाते हैं और बड़े होते जाते हैं। जब बड़े-बड़े बुलबुले डिब्बों के नीचे से निकलने की कोशिश करते हैं तो वे खाद्य सामग्री से भरे डिब्बों को हिला सकते हैं। इसके कारण सामग्री डिब्बे के बाहर भी छलक सकती है और अगर एक से ज़्यादा डिब्बे हों तो एक-दूसरे में मिल भी जाती है।

और इसी दिक्कत से बचने के

चित्र-1: *कुकर में जाली वाली प्लेट रखने से पानी में बन रहे बुलबुले डिब्बों के नीचे फँसकर बड़े नहीं हो पाते और उन्हें छिद्रों में से निकलने की जगह मिल जाती है। इस तरह डिब्बों में पक रहा खाना गिरने से बच जाता है।*

लिए जाली वाली प्लेट का इस्तेमाल किया जाता है। इस छिद्रित प्लेट की वजह से बुलबुले फँसकर बड़े नहीं हो पाते। जब बुलबुले बनते हैं तो कुकर के तल और डिब्बे के बीच में ये जाली आ जाती है, और बुलबुलों को जाली के छोटे छिद्रों में से निकलने की जगह मिल जाती है जिससे इनका आकार बहुत बड़ा नहीं हो पाता। इस कारण डिब्बे भी नहीं हिलते और इनमें पक रहा खाना भी सही-सलामत रहता है।

तो यह है कुकर में रखी जाने वाली जाली की प्लेट का काम! ऐसे ही सवाल पूछते रहिए और नई बातें जानते रहिए, सवालीराम के साथ।

अनमोल जैन: *संदर्भ* पत्रिका से सम्बद्ध हैं। साथ ही, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र. से अँग्रेज़ी साहित्य में स्नातकोत्तर।

इस बार का सवाल: पुरुषों के कुर्ते में बटन दाईं तरफ और महिलाओं के कुर्ते में बटन बाईं तरफ क्यों होते हैं?

उज्जैन, म.प्र.

आप हमें अपने जवाब sandarbh@eklavya.in पर भेज सकते हैं।

प्रकाशित जवाब देने वाले शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं अन्य को पुस्तकों का गिफ्ट वाउचर भेजा जाएगा जिससे वे पिटाराकार्ट से अपनी मनपसन्द किताबें खरीद सकते हैं।

RNI No.: MPHIN/2007/20203

प्रकाशक, मुद्रक, राजेश खिंदरी की ओर से निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन, जमनालाल बजाज परिसर,
जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (म.प्र.) द्वारा एकलव्य से प्रकाशित तथा
भण्डारी प्रेस, ई-2/106, अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 462 016 (म.प्र.) से मुद्रित, सम्पादक: राजेश खिंदरी।